निवेदन

स्व० शरच्चन्द्र चट्टोपाध्यायकी उपन्यास-कहानी-लेखकके रूपमे ही विशेष प्रसिद्धि है; परन्तु इस बातको बहुत ही कम लोग जानते हैं कि वे उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक और आलोचक भी थे। समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्रोका उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। अपने मित्रों और परिचितोंको लिखे हुए अनेक पत्रों (शरत्पत्रावली) में उन्होंने इसका उल्लेख किया है। वे बड़े ही अध्ययनशील थे। प्रतिदिन पॉच-छह घण्टे अध्ययन करना उनकी दिनचर्यामें शामिल था। उसीका यह फल है कि उन्होंने बहुत ही उच्च कोटिके निबन्ध लिखे है। शरत्साहित्यके १५वे भागमे उनका एक विस्तृत निबन्ध 'नारीका मूल्य' प्रकाशित हो चुका है। इस भागमें उनके छोटे-बडे तेईस निबन्ध और भाषण प्रकाशित किये जा रहे है, जो स्वदेश और साहित्य-सम्बन्धी है और अनेक पत्र-पत्रिकाओंमेसे सग्रह किये गये हैं। प्रत्येकके अन्तमे उनके लिखे जाने या प्रकाशित होनेकी तिथि दी हुई है।

इनके सिवाय उनके और भी अनेक लेख और निबन्ध हैं जो इस भागमे नहीं दिये जा सके और आगे किसी भागमें प्रकाशित किये जायँगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

शरत्-निबन्धावली

मेरी बात

हावड़ा-जिला कांग्रेस कमेटीका मैं सभापति था। मैं और मेरे जो सहकारी या सहकर्मी थे, उन सभीने इस्तीफा दे दिया है, यह बतानेके लिए ही आजकी सभाका आयोजन है। आडवम्रके साथ अपनी वक्तृता ,सुनानेके लिए आप लोगोंको नहीं बुलाया है। भारतवर्षकी जातीय महासभा कांग्रेसकी इस छोटी-सी शाखाके कामका भार जो मुझे सौंपा गया था, उससे विदाई लेते समय आप लोगोंके निकट मुक्तकण्ठसे उसका कारण प्रकट करना ही इस सभाका उद्देश्य है। एक बात उठी थी कि चुपकेसे हट जानेसे ही तो काम चल जाता, इस लज्जाजनक घटनाको इतनी धूमधामसे जतानेकी क्या जरूरत थी? मैं समझता हूँ, जरूरत थी। मेरी खयाल है कि बिना कुछ कहे चुपचाप हट जानेसे चक्षु-लज्जासे अवश्य बचा जाता, किन्तु सत्यकी लज्जा चौगुनी हो उठती। इसके बाद इस जिलेकी कांग्रेस-कमेटी रहेगी या नहीं, मैं नहीं जानता। रह सकती है, न रहना भी विचित्र नहीं है, किन्तु वह चाहे जो हो, जिसके भीतर घाव है, उसे बाहर अ-क्षत या बिलकुल स्वस्थ दिखानेका पाप मैं नहीं कर सकता। यह एक पालिसी हो सकती है, लेकिन इसे अच्छी पालिसी मैं नहीं मानता।

मैं काम करनेवाला मुस्तैद आदमी नहीं हूँ, इस भारी बोझके योग्य मैं नहीं था। अपनी अक्षमताका क्षोभ मेरे मनमें है ही, किन्तु जो भार एक दिन ग्रहण किया था, उसे आज अकारण अथवा केवल स्वार्थकी खातिर त्याग किये

जा रहा हूँ, यह कलंक भी जाते समय मुझे न मिलना चाहिए। मेरी बात आप लोगोंको जरा धैर्य धारण करके सुननी होगी।

मेरे मनमे शायद कोई अप्रिय कड़ी बात रह सकनी है, शायद मेरे अभियोगमे अप्रिय सुर भी आप लोगोंके कानोमें खटकेगा, किन्तु हम लोगोकी वर्तमान अवस्थामे जो कुछ सत्य मैंने जाना या समझा है, वह आप लोगोंको सुनाये बिना मेरी छुट्टी नहीं हो सकती। कारण, सत्यको छिपाना अपनेको धोखा देनेके ही समान है। इसमे एक आशंका विरोधी पक्षके उपहास और व्यग्य-विद्रूपकी है। किन्तु अपने कर्मफलसे वही अगर मैंने कमाया हो तो मेरे सिवा और कौन उसे भोगेगा? और यदि ऐसा न हुआ हो, व्यग्य-विद्रूपका कारण यदि सचमुच ही न घटित हुआ हो तो भय किस बातका? यथार्थ सम्मानकी वस्तुपर जो मूढ़ अयथा व्यग्य करता है, सारी लज्जा तो उसीकी है। अतएव यह सब मिथ्या दुश्चिन्ता मुझे नहीं है। मुझे एकमात्र चिन्ता निष्कपट रूपसे आप लोगोके आगे सब-कुछ प्रकट करनेकी है। कारण, प्रतिकारकी इच्छा और शक्ति आप लोगोके ही हाथमे है। इस अंतिम घड़ीमे भी अगर इस काग्रेस कमेटीको मरनेसे बचाना चाहे तो केवल आप ही बचा सकते है।

पजाबके अत्याचार[१] के उपलक्ष्यमे डेढ़ साल पहले एक दिन जब देशव्यापी आन्दोलनने जोर पकड़ा था, तब हम लोगोने आकाशभेदी चीत्कारके साथ स्वराज माँगा था, गला फाड़फाड़कर महात्माजीके जयजयकारका प्रचार दसों दिशाओमे करके कहा था कि स्वराज हमे चाहिए, जरूर चाहिए। स्वाधीनता मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है और स्वराजके बिना अन्यायका कभी प्रतिविधान या प्रतिकार न हो सकेगा। बात मौलिक सत्य है, इस बातको जान पड़ता है, कोई भी अस्वीकार न कर सकेगा। यथार्थ ही स्वाधीनतामे मनुष्यका जन्मगत अधिकार है, भारतवर्षके शासनका भार भारतीयोके ही हाथमे रहना चाहिए और इस जिम्मेदारीसे जो कोई उन्हे वचित कर रखता है, वही अन्यायी है। यह सब सच है। किन्तु ऐसी ही और भी तो एक बात है, जिसे स्वीकार न करनेका कोई उपाय नहीं है। वह है हम लोगोंका कर्तव्य।

---

१. जलियानवाला बागका हत्याकाण्ड।

अधिकार (Right) और कर्तव्य (Duty), दोनों शब्द एक-दूसरेके पूरक और सारे आईनकी पहली वात है। सब देशोंके सामाजिक विधानमे एकको छोड़कर दूसरा एक घड़ी भी टिक नहीं सकता, यह एक सर्वसम्मत सत्य है। क्या केवल हमारे देशमें ही इस विश्व-नियमका व्यतिक्रम घटित होगा ? स्वराज या स्वाधीनता अगर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तो ठीक उतनी ही कर्तव्यकी जिम्मेदारी लेकर भी तो हम माताके गर्भसे पृथ्वीपर आये है। एकसे बचकर दूसरेको हम प्राप्त करेंगे, इतना बडा अन्याय, असगत दावा—इतना बड़ा पागलपन तो और कोई हो नहीं सकता। केवल घटनाक्रमसे भारतवर्पमे पैदा हुआ हूँ, इसलिए भारतकी स्वाधीनताके अधिकारका जोर गलेसे दावा करना भी किसी तरह सत्य नहीं हो सकता ! और यह प्रार्थना ॲगरेज ही क्यो, स्वय विधाता पुरुप भी जान पड़ता है, मजूर नहीं कर सकते। यह सत्य, यह सनातन विधि, यह चिर-नियन्त्रित व्यवस्था हृदयसे हृदयंगम करनेका दिन आज हम लोगोंका आया है। इसे चकमा देकर स्वतन्त्रताका अधिकार केवल हम ही क्यो, पृथ्वीपर किसी मनुष्यने कभी नहीं पाया, और मेरा विश्वास है कि किसी दिन कभी कोई पा भी नहीं सकता। कर्तव्यहीन अधिकार भी अधिकारके समान है। काम करेंगे नहीं, मूल्य देंगे नहीं, फिर भी पावेंगे, प्रार्थनाका यह अद्भुत ढंग ही अगर हमने पकड़ा है तो निश्चय ही मै कहता हूँ कि केवल समस्वर और जोरदार गलेसे वन्दे मातरम् और महात्माजीकी जय-ध्वनिसे गला फाड़नेसे हमारा रक्त ही वाहर निकलेगा, पराधीनताकी भारी शिला सुईकी नोकभर भी टससे मस न होगी।

थोड़ा-सा अविनयका अपवाद स्वीकार करके भी कहना पड़ता है कि बूढ़ा होनेपर भी चिर दिनके अभ्याससे मेरी इन ऑखोकी नजर आज भी एकदम धुॅधली नहीं हो गई है। जो देखता हूँ, कमसे कम इस हावडा जिलेमे जो देखता हूँ, वह खालिस भीखका मॉगना, दाम न देकर मॉगना, चकमा देकर मॉगना है। मनुष्यके काम-काज, लौकिकता, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद, सब प्रकारकी सुख-सुविधाओंमें कहीं कोई त्रुटि न होने पावे, पानमें जरा-सा चूनातक न कम होने पावे; उसके बाद स्वराज कहो, स्वाधीनता कहो, चरखा

कहो, खद्दर कहो, मय अँगरेजको भारत-सागरके पार उतार देनातक—जो हो सो हो, कोई आपत्ति नहीं है। यही मनोभाव यहाँ देख पड़ता है। आपत्ति उन लोगोंको नहीं हो सकती; किन्तु अँगरेजको है। सौमें पंचानवे लोगोंकी इस हँसने लायक माँगको वह अगर हँसकर उड़ा दे और कहे कि भारतवासी स्वराज नहीं चाहते तो क्या वह बिलकुल झूठ कहता है? जिस अँगरेजने पृथ्वीभरमें फैला हुआ राज्य बढ़ाया है, जो अपने देशके लिए एक सेकेंड भी मनमें दुविधा नहीं लाता, जो स्वाधीनताके स्वरूपको जानता है और पराधीनताकी लोहेकी जंजीरको मजबूतीसे तैयार करनेके कौशलको जिससे बढ़कर कोई नहीं जानता, उसे क्या केवल चकमा देकर, आँखें दिखाकर, गलेसे और कलमसे गाली-गलौज करके, उसकी भूल-चूकके हजारों प्रमाण छापेके अक्षरोंमें संग्रह करके, उसे शर्मिन्दा करके ही क्या इतनी बड़ी चीज प्राप्त की जा सकेगी? यह प्रश्न तो इतना प्रमाणित हो गया है कि उसके बारेमें कोई तर्क ही नहीं उठाया जा सकता। इस लज्जाजनक वाक्यकी साधनामें केवल लज्जा ही बढ़ती जायगी, सिद्धि कभी प्राप्त नहीं होगी।

आत्मवंचना बहुत की जा चुकी, अब उसके लिए मुझमें और उद्यम नहीं है। जड़की तरह निश्चल होकर जन्मसिद्ध अधिकारका दावा जतानेमें भी अब उस तरह मेरे मुँहसे बोल नहीं फूटता; दूसरोंके मुँहसे तत्त्वकी बातें सुननेका धैर्य भी अब मुझमें नहीं है। मैं निश्चय जानता हूँ कि स्वाधीनताका जन्मसिद्ध अधिकार अगर किसीका रह सकता है तो वह मनुष्यत्वका, मनुष्यका नहीं। अन्धकारके बीच प्रकाशका जन्मसिद्ध अधिकार दीपककी ज्योतिका है, दीपकका नहीं। बुझे हुए दीपकका यह दावा उठाकर हंगामा करनेका उद्यम केवल अनर्थक ही नहीं, अपराध भी है। सब दावे उपस्थित करनेके पहले यह बात भूल जानेसे केवल अँगरेज ही नहीं, पृथ्वीभरके लोग हँसेंगे।

महात्माजी आज कारागारमें हैं। उनके कारावासके पहले दिन मार-काट नहीं मची, सारा भारतवर्ष स्तब्ध हो रहा। देशके लोगोंने गर्वके साथ कहा—यह केवल महात्माजीकी शिक्षाका फल या प्रभाव है। ऐंग्लो-इण्डियन अखबार-वालोंने हँसकर जवाब दिया—यह केवल Indifference (उदासीनता) है। किन्तु इस विवादमें किसी पक्षका प्रतिवाद करनेको मेरा जी नहीं चाहता। जान

पड़ता है, अगर ऐसा हुआ भी हो तो इसमे देशके लोगोंके लिए इतना गर्व करनेकी क्या बात है ? Organised Voilence (व्यवस्थित हिसा) करनेकी हममें शक्ति नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है, सुयोग नहीं है। फिर एकाएक मार-काट ? वह तो एक आकस्मिकताका फल होती है। यह जो हम इतने भले आदमी यहाँ जमा हुए है, इनमेसे किसीका व्यवसाय उपद्रव करना नहीं है, किसीकी ऐसी इच्छा भी नहीं है, फिर भी कोई जोर करके यह नहीं कह सकता कि हमारे घरका लौटनेके इस थोड़ेसे मार्गमें ही एकाएक हम कुछ उपद्रव नहीं खड़ा कर दे सकते है। साथ ही साथ एक बहुत बड़ा फसाद उठ खड़ा होना भी तो असम्भव नहीं है। ऐसा हुआ नहीं, अच्छा ही हुआ और मैं भी इसे तुच्छ कहकर इसकी अवज्ञा करना नहीं चाहता; किन्तु इसी बातको लेकर घमडके साथ बलफते फिरनेका भी कोई कारण नहीं है। इसीको बहुत बड़ा कृतित्व कहकर सान्त्वना करनेकी चेष्टा भी आत्मप्रवंचना है। और उदासीनता ? इस शब्दसे अगर किसीने यह इशारा किया हो कि महात्माजीको जेलमे बन्द करनेसे देशके लोगोको गम्भीर व्यथा नही खटकी, तो इससे बढ़कर मिथ्या बात और हो ही नहीं सकती। व्यथा तो हम लोगोंको मर्मभेदी ही हुई है, किन्तु उसे चुपचाप सह लेना ही हमारा स्वभाव है; प्रतीकारकी कल्पना हम लोगोंके मनमे आती ही नहीं।

किसी प्रियतम परम आत्मीयके मरनेपर शोकार्त मन जैसे उपाय-हीन वेदनासे रोता रहता है, फिर भी जो अवश्यम्भावी है, उसके विरुद्ध कुछ करना या उसे रोकना अपने हाथकी बात नहीं है—यह कहकर मनको समझाकर फिर खाना-पीना, आमोद-आह्लाद, हँसी-दिल्लगी, काज काम बदस्तूर पहलेकी ही तरह चलता रहता है। महात्माजीके कारावासके सम्बन्धमे भी देशके लोगोंका मनोभाव प्रायः वैसा ही है। उनका क्रोध जाकर पड़ा जज साहबके ऊपर। किसीने कहा—जजने जो महात्माजीके लिए प्रशसाके वाक्य कहे, वह केवल दिखावा या प्रवंचना है। किसीने कहा—उन्हे दो वर्षकी सजा देनी चाहिए थी। किसीने कहा—अधिकसे अधिक तीन वर्ष। किसीने कहा—नहीं, चार वर्ष। लेकिन जब छः वर्षकी जेल हो गई, तब उपाय क्या है ? अब सरकार अगर दया करके कुछ पहले उन्हे छोड़ दे तो ठीक। किन्तु महात्माजी यह

सोचकर जेल नही गये। उनके मनमें यही आशा थी कि जेल चाहे छः वर्षकी हो, चाहे दस वर्षकी, उन्हे छुड़ाना तो देशके लोगोंके ही हाथमें है। जिस दिन वे चाहेगे, उससे एक दिन अधिक कोई उनको जेलके भीतर नहीं रख सकेगा, वह सरकार चाहे जितनी शक्तिशाली क्यो न हो। किन्तु वह आशा अकेले उन्हींको थी, देशके लोगोंको ऐसा भरोसा करनेका साहस नहीं हुआ। उनका धनोपार्जनसे लेकर आहार-निद्रातक सब उसी तरह चलने लगा—उसमे कोई रुकावट नहीं हुई, उनके क्षुद्र स्वार्थमे कही जरा-सा भी विघ्न नहीं पड़ा; केवल महात्माजी और उनके पचीस हजार सहकर्मी देशके कामसे देशकी जेलोंमे सड़ने लगे। प्रतीकार तो क्या करेंगे, इतनी बड़ी हीनताकी लज्जाका अनुभव करनेकी शक्तितक जैसे इन लोगोमे नहीं रही। ये बुद्धिमान् है, बुद्धिकी विडम्बनासे इन्होंने बहाना निकाला है कि नानवायलेस (अहिंसा) क्या सभव है? नान-को-आपरेशन (असहयोग) क्या चल सकता है? गॉधीजीका Movement (आंदोलन) क्या Practical (व्यावहारिक) है? इसीसे तो हम लोग...। किन्तु कौन इन्हे समझावे कि आन्दोलन ही सब-कुछ नही है। जो Move (संचालन) करता है, वह मनुष्य ही सब कुछ या उसकी जान है। जो मनुष्य है, उसके लिए सहयोग, असहयोग, हिसा, अहिंसा सब बराबर हैं, सभी समान फल देनेवाले है।

असहयोग भिक्षा मॉगना नही है। वह एक काम है। अतएव यह बात किसी तरह सच नहीं है कि असहयोगकी राह इस देशमें अचल है। मुक्तिका मार्ग उधर नहीं गया। कमसे कम अब भी ऐसे लोगोंका एक दल है—वह संख्यामें चाहे जितना थोड़ा हो—जो समस्त अन्तःकरणसे इसपर आज भी विश्वास रखता है। जानते हैं, ये लोग कौन है? एक दिन जिन्होंने महात्मा-जीकी व्याकुल पुकारपर स्वदेश-सेवाके व्रतमे जीवन अर्पण कर दिया था—वकील अपनी वकालत छोड़कर, शिक्षक शिक्षकता छोड़कर, विद्यार्थी स्कूल-कालिज छोड़कर उनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये थे। जो अधिकांश आज कारागारमे है, ये उनके ही अवशिष्ट अश है। देशके कल्याणके लिए, अपने कल्याणके लिए, मेरे कल्याणके लिए, सब नर-नारियोंके कल्याणके लिए जो व्यक्तिगत स्वार्थको तिलाजलि दे आये थे, आज उन्हे उसी देशके लोगोंने

किस दशाको पहुँचा दिया है, आपको मालूम है? आज वे सम्मानहीन, प्रतिष्ठाहीन, लाञ्छित, पीड़ित, भिक्षुकोंका समूह हैं। उनके कपड़े पुराने, फटे और मैले हैं। वे गृहहीन हैं। वे मुट्ठी-मुट्ठी भीख माँगकर जीवन बिता रहे हैं। साधारण तेल-नोनके पैसोंके लिए स्टेशनपर खड़े होकर भीख माँगनेके लिए लाचार हैं। फिर भी अपनी इच्छासे वे सब-कुछ त्याग कर आये हैं। जितनेकी उन्हें जरूरत है, वह थोड़ा-सा सारे देशके निकट कितना अकिंचित्कर है! इतना-सा भी वे सम्मानके साथ नहीं प्राप्त कर सकते। फिर भी ये ही लोग आज अपने भीतर स्वराजका आसन और देशके बाहर सारे भारतकी श्रद्धा और सम्मानका झंडा लिये घूमते हैं। आशाका दीपक, वह चाहे जितना क्षीण क्यों न हो, आज भी इन्हीं लोगोंके हाथमें है। इनके निर्यातनकी कहानी समाचारपत्रोंके पन्नोंमें छपती है, किन्तु जो अप्रकट लाञ्छना और अपमान इन लोगोंको स्वदेशवासियोंके निकट सहना पड़ता है, उसकी तुलनामें वह कितनी-सी है—कुछ नहीं है। महात्माजीका आन्दोलन रहे चाहे जाय, अगर न्याय, धर्म और सत्य विधि-विधान कहीं किसी जगह है, तो इन लोगोंको अश्रद्धेय बना डालनेके—दीन, हीन, व्यर्थ बना देनेके महापापका प्रायश्चित्त देशके लोगोंको करना ही पड़ेगा। हावड़ा जिलेकी तरफसे अगर आज मैं मुक्तकण्ठसे कहूँ कि कमसे कम इस जिलेके आदमी स्वराज नहीं चाहते तो उसका तीव्र प्रतिवाद होगा। हर एक अखबारमें मुझे अनेक कटुवाक्य और गाली-गलौज सुनना होगा। लेकिन तो भी यह बात सच है। कुछ करेंगे नहीं; कोई क्षति, कोई असुविधा उठावेंगे नहीं, कुछ भी सहायता देंगे नहीं—अपनी बँधी हुई सुनिश्चित जीवन-यात्राके बाहर जरा भी जायँगे नहीं, हमारे रुपयेपर रुपया, घरके ऊपर घर, गाड़ीके ऊपर गाड़ी, दुमजिलेके ऊपर तिमंजिला और तिमंजिलेके ऊपर चौमंजिला उठता रहे, केवल ये ही कुछ बुद्धिभ्रष्ट, लक्ष्मीके त्यागे हुए लोग कुछ खाये-पिये बिना, नंगे पैर घूमकर अगर स्वराजको ला दे सकें तो ला दें; तब न होगा धीर सुस्थ भावसे आँखें मूँदकर आरामसे रसगुल्लेकी तरह उसका स्वाद लिया जायगा। किन्तु ऐसा काण्ड तो कहीं भी कभी हुआ नहीं। असल बात यह है कि ये लोग यह विश्वास ही नहीं कर सकते कि स्वराज कभी हो सकता है, उसके लिए चेष्टा की जा सकती है। क्या होगा उससे,

क्या होगा चरखेसे, क्या होगा देशात्मबोधकी चर्चासे ? इन बातोंमे क्या रक्खा है ? बुझी हुई दीपशिखाकी तरह मनुष्यत्व धो-पुंछ गया है। एकमात्र हाथ फैलाकर भिक्षा मॉगनेकी चेष्टाके सिवा और किसी बातसे क्या होगा !

एक नमूना देता हूँ—

उस दिन नारी-कर्म-मन्दिरसे दो महिलाओ और श्रीयुत डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय महाशयको लेकर घोर दुर्योग (ऑधी-पानी) के बीच आमृता जिलेकी ओर हम लोग गये। सोचा था, ऋषितुल्य और सर्वदेशपूज्य व्यक्तिको साथ लेनेसे हमारी इस यात्राका अच्छा फल होगा। हुआ भी। वंदे मातरम्, महात्माजी और डॉ० प्रफुल्लचन्द्र रायके जयजयकारमें कोई कमी नही हुई, और इस रोगी आदमीको स्थानीय रायबहादुरके टूटे तामजामके भीतर बलपूर्वक बिठानेमे भी लोगोका आन्तरिक और एकान्त उद्यम देख पड़ा। किन्तु उसके बादका इतिहास सक्षेपमे इस प्रकार है—हमारे जाने-आनेका खर्च हुआ पचास रुपए। ऑधी-पानीमे हमारी देखरेख रखते हुए घूमनेमे पुलिसका भी जान पड़ता है, इतना ही खर्च हुआ होगा। उन्नतिशील स्थान है, वकील-मुख्तार और बहुत-से धनी लोग रहते है। फिर भी स्थानीय करघे और चरखेकी उन्नतिके लिए चन्दा किया गया तो वादा हुआ तीन रुपये पॉच आनेका ! इसके बाद आचार्य देव (प्रफुल्लचन्द्र) ने बड़े परिश्रमसे यह आविष्कार किया कि वहॉके दो वकील विलायती कपड़ा नही खरीदते और एक आदमीने उनकी वक्तृतासे मुग्ध होकर उसी दम प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्यमें अब वह भी नहीं खरीदेगे। लौटते समय राहमे प्रफुल्लचन्द्रने प्रफुल्ल होकर मेरे कानमे चुपकेसे कहा— हॉ, यह जिला बेशक उन्नतिशील है। और जरा लगे रहिए, Civil disobedience (भद्रअवज्ञा), जान पड़ता है, आप लोग ही डिक्लेयर (घोषित) कर सकेगे।

और जन-साधारण ? वह तो सर्वथा भद्र लोगोंके ही पीछे चलते है।

यह चित्र दुःखका चित्र है, वेदनाका इतिहास है, अन्धकारकी तसवीर है। किन्तु यही क्या आखिरी बात है ? यही अवस्था क्या इस जिलेके लोग चुपचाप शिरोधार्य कर लेगे ? किसीको भी कोई बात, कोई त्याग, कोई कर्तव्य ही क्या न दिखाई देगा ? जिन लोगोने देशसेवाके व्रतमें जीवन अर्पण कर दिया है, जो

लोग किसी भी प्रतिकूल अवस्थाको स्वीकार नहीं करना चाहते, जिन्होंने गवर्नमेंटसे भी हार नहीं मानी, वे क्या अन्तमें अपने देशके लोगोंसे ही हार मानकर लौट जायँगे ? आप लोग क्या उनकी कोई खबर ही न लेंगे ?

इस प्रसंगमें मैं बंगालकी प्रांतीय कांग्रेस कमेटीकी बातका भी उल्लेख करना चाहता था; लेकिन अब और लज्जा बढ़ानेकी प्रवृत्ति नहीं होती।

मेरी एक आशा यही है कि संसारकी सभी शक्तियाँ लहरकी गतिसे आगे बढ़ती हैं। इसीमें शक्तिका उत्थान-पतन देख पड़ता है। चलनेके वेगसे आज जो नीचे पड़ा है, कल वही फिर ऊपर उठेगा; नहीं तो उसका चलना सम्पूर्ण न होगा। पहाड़में गति नहीं है, वह निश्चल है, इसीसे उसकी चोटी एक जगहपर ऊँची रहती है, उसे नीचे नहीं आना पड़ता। किन्तु हवाके थपेड़े खानेवाले सागरकी यह व्यवस्था नहीं है। वह उठता है, गिरता है। यह उसके लिए लज्जाका कारण नहीं है। यह उसकी गतिका चिह्न है, उसकी शक्तिकी धारा है। तभी वह केवल ऊँचा होकर रहना चाहता है, जब जमता है तब बर्फ हो उठता है। उसी तरह अगर हमारा यह भी एक Movement (आन्दोलन) है, पराधीन देशका एक अभिनव गति-वेग है, तो उठने-गिरनेका कानून इसे भी मान लेना होगा, नहीं तो यह चल ही नहीं सकेगा।

किन्तु इसके साथ जो चलेंगे, उनके लिए रसद पहुँचानी चाहिए। रसद न पाकर भी इतने दिन किसी तरह हम लँगड़ाते-लँगड़ाते लड़खड़ाते चले हैं। किन्तु इस समय हम भूखे, थके और पीड़ित हैं। हम लोगोंको बिदाई देकर आप लोग नये यात्रियोंको चुन लीजिए।[1]

---

१ १४ जुलाई सन् १९२? को हावड़ा-जिला कांग्रेस-कमेटीका सभापतिपद त्याग करते समय पठित भाषण।

स्वराज्यकी साधनामें नारी

शास्त्रोमे तीन प्रकारके दुःख कहे है। जान पड़ता है, पृथ्वीके जितने दुःख है, सभीको इन तीनोके पर्यायमे डाला जा सकता है। किन्तु आज मै उनकी आलोचना नही कर रहा हूँ। वर्तमान कालमें जिन तीन प्रकारके भयानक दुःखोंके बीचमे हमारी जन्मभूमि लुढ़कती जा रही है, वे भी तीन ही प्रकारके हैं, लेकिन वे है राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक। राजनीतिको हम सभी लोग नहीं समझते, किन्तु जान पड़ता है, इस बातको अनायास ही समझ सकते हैं कि ये तीनो ही एकदम न काटे जा सकनेवाले बन्धनसे बँधे है। एक बात उठी है कि एक राजनीतिमे ही हमारे सब कष्टो, सब दुःखोंकी समाप्ति है। शायद यह बात सच है, शायद नही है, शायद इसमे सत्य और मिथ्या दोनो मिले-जुले है; किन्तु यह बात भी किसी तरह सत्य नही है कि मनुष्यकी किसी भी ओरसे दुःख दूर करनेकी सच्ची चेष्टा एकदम व्यर्थ हो जा सकती है। जो लोग राजनीतिको अपनाये हुए है, वे सर्वथा सब समय हमारे वंदनीय है। किन्तु हम लोग सभी अगर उनके चरणचिह्नोंके पीछे चलनेके सुस्पष्ट चिह्न ढूँढ़े न पावे—जो निशान केवल स्थूल दृष्टिसे ही देख पड़ते है—हमारे आर्थिक और सामाजिक स्पष्ट दुःख—केवल इन्हींके ही प्रतीकारकी चेष्टा करें, तो जान पड़ता है, महाप्राण राजनीतिक नेताओंके कन्धेसे एक भारी बोझा उतार दे सकते है।

तुम्हारी लंबी छुट्टीके पहले, तुम्हारे और मेरे भी परम बन्धु श्रीयुक्त सुरेन्द्र-नाथ मैत्र महाशयने इस दूसरे प्रकारकी असह्य वेदनाकी कुछ बाते तुम लोगोको याद करा देनेके लिए मुझे यहाँ बुलाया है। दूसरे, यह अफवाह है कि मैं देशके गाँवोंमें बहुत दिनोतक बहुत घूमा हूँ। छोटे-बड़े, उच्च-नीच, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, बहुतसे लोगोसे मिलजुलकर अनेक तत्त्वकी बाते मैंने संग्रह कर रक्खी हैं। अफवाह किसने उड़ाई है, यह समझ पाना कठिन है किन्तु बात ठीक सच न होनेपर भी उसे एकदम मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। देशके सौमें नब्बे आदमी जहाँ रहते हैं, उस गँवई-गाँवमे ही मेरा घर

है। मनके अनेक आग्रह और अनेक कुतूहल दबा न पाकर अक्सर अनेक बार दौड़ा जाकर मैं उनके बीचमें रहा हूँ और उनके बहुत दुःख और बड़ी गरीबीका आज भी मैं साक्षी बना हुआ हूँ। उनके उस असह्य, अव्यक्त दुःख और गरीबीको मिटानेका भार लेनेके लिए आज अपने देशके सब नर-नारियोंका आह्वान करनेको जी चाहता है; किन्तु तब मेरा गला रुँध जाता है, जब खयाल आता है कि मातृभूमिके इस महायज्ञमें नारीको निमन्त्रण देनेका मुझे कितना अधिकार है। जिसे दिया नहीं, उससे प्रयोजनके समय कुछ माँगनेका दावा किस मुँहसे करूँ? कुछ समय पहले 'नारीका मूल्य' शीर्षक एक निबन्ध मैंने लिखा था। उस समय मेरे मनमें आया था कि अच्छा, अपने देशकी हालत तो मैं जानता हूँ; किन्तु और भी तो बहुत-से देश हैं, उन्होंने वहाँ नारीका मूल्य क्या दिया है? पोथी-पत्रे खूब देख-भालकर जो सत्य प्रकट हुआ, उसे देखकर मैं एकदम आश्चर्यमें डूब गया। पुरुषके मनका भाव, उसका अन्याय और अविचार सभी जगह समान है। नारीको उसके न्यायसंगत अधिकारसे न्यूनाधिक प्रायः सभी देशोंके पुरुषने वञ्चित कर रक्खा है। इसीसे उस पापका प्रायश्चित्त आज सारे देशोंमें शुरू हो गया है। स्वार्थ और लोभके वशीभूत होकर पुरुषने जब पृथ्वीव्यापी युद्ध ठानकर मार-काट मचा दी, तभी उनको पहले पहल होश हुआ कि यह खून-खराबी ही अन्त नहीं है, इसके ऊपर और भी कुछ है। पुरुषके स्वार्थकी जैसे सीमा नहीं है, वैसे ही उसकी निर्लज्जताकी भी हद नहीं है। इस दारुण दुर्दिनमें नारीके पास जाकर खड़े होनेमें उसे हिचक या रुकावट नहीं हुई। मैं जानता हूँ कि इस वञ्चिता नारीका दान न मिलनेपर इस संसारव्यापी नर-मेधके प्रायश्चित्तका परिमाण आज क्या होता! अथ च, इस बातको भूल जाते भी आज मनुष्यको देर नहीं लगी—हिचकिचाहट नहीं हुई।

आज अँगरेजी गवर्नमेंटके खिलाफ हमारे क्रोध और क्षोभकी सीमा नहीं है। गाली-गलौज भी हम कुछ कम नहीं करते। अपने अन्यायका दण्ड दे पावेंगे, किन्तु केवल उन्हींकी त्रुटिपर जोर देकर हम अगर परम निश्चिन्तताके साथ आत्म-प्रसाद लाभ करें, तो उसकी सजा कौन भोगेगा? इस प्रसंगमें मुझे कन्या-दाय-ग्रस्त बाप-चाचा-ताऊ वगैरहके क्रोधान्ध चेहरे याद आते हैं और

उन सबके मुँहसे जो शब्द निकलते है, वे भी मनोरम नहीं होते। वे मुझसे यह कहकर शिकायत करते है कि मै अपनी पुस्तकोमें दहेजके खिलाफ प्रचण्ड आन्दोलन करके उनको कन्या-दायसे छुटकारा पानेकी सुविधा क्यो नहीं कर देता ?

मै कहता हूँ—आप कन्याका व्याह न कीजिए।

वे ऑखे कपारपर चढ़ाकर कहते हैं—आप यह क्या कहते है महाशय ? यह तो कन्यादाय है !

मै कहता हूँ—कन्या जब दाय है, तब उसका प्रतिकार आप ही कीजिए। मेरे पास इस विषयको लेकर माथा गरम करनेका समय नहीं है और वरके बापको निरर्थक गालियाँ देनेकी प्रवृत्ति भी नहीं है। असल बात यह है कि बाघके मुँहपर खड़े होकर, हाथ जोड़कर, उससे वैष्णव होनेका अनुरोध करनेका कुछ फल होनेका भरोसा जैसे मुझे नहीं होता, वैसे ही यह विश्वास भी मै नहीं करता कि जो वरका बाप कन्यादायग्रस्तके कान उमेठकर रुपये वसूल करनेकी आशा रखता है, उसे दाता कर्ण बननेका उपदेश देनेसे कुछ लाभ होगा। उसके पैर पकड़नेसे भी नहीं, उसके आगे गिड़गिड़ानेसे भी नहीं। असल प्रतीकार लड़कीके बापके हाथमे है, जो उसके हाथमे रुपये देता है। अधिकाश कन्यादायग्रस्त लोग मेरी बात नहीं समझते; किन्तु कोई-कोई समझते हैं। वे मुख मलिन करके कहते है—यह कैसे होगा महाशय कि कन्याका व्याह न करें ! समाज जो है ! किन्तु सभी लड़कियोंके बाप अगर यह बात कहे तो मै भी कह सकता हूँ कि मै अकेले तो कुछ कर नहीं सकता। उनकी यह बात कि वह अकेले यह काम नहीं कर सकते, सुननेमे समझदारी-सी जरूर जान पड़ती है, किन्तु असल गलती भी इसी जगह है। कारण, पृथ्वीपर कोई भी संस्कार या सुधार दल बॉधकर नहीं होता। अकेले ही कमर कसकर खडे होना पड़ता है। इसमे दुःख भी है। किन्तु यह अपनी इच्छासे ग्रहण किया हुआ अकेलेपनका दुःख, एक दिन सघबद्ध होकर बहुतोका कल्याण करता है। जो लड़कीको एक मनुष्य मानता है, केवल लड़की नहीं समझता, भार नहीं समझता, वही केवल इसके दुःखको वहन कर सकता है, दूसरा नहीं। और केवल व्याह देना नहीं, लड़कीको मनुष्य बनानेका भार भी उसीके ऊपर है, और यहीपर पिता होनेका गौरव है।

ये सब बातें मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि कुछ कहना चाहिए। सभामे खड़े होकर मनुष्यत्वके आदर्शका अभिमान लेकर भी प्रकट नहीं कर रहा हूँ। आज मै बिलकुल अपनी गरजसे कह रहा हूँ। आज जो लोग स्वराज पानेके लिए सिर पटककर जान दे रहे हैं, मैं भी उनमेंसे एक हूँ। किन्तु मेरे अन्तर्यामी भगवान् किसी तरह मुझे भरोसा नहीं देते। कहींसे, किसी अलक्ष्य स्थानसे जैसे वह हर घडी यह आभास दे रहे है कि यह नहीं होनेका। जिस चेष्टामें, जिस आयोजनमे, देशकी नारियाँ सम्मिलित नहीं हैं, उनकी सहानुभूति नहीं है, इस सत्यकी उपलब्धि करनेका कोई ज्ञान, कोई शिक्षा, कोई साहस आजतक जिनको हमने नहीं दिया, उनको केवल घरके घेरेके भीतर बिठाकर केवल चरखा कातनेके लिए बाध्य करके ही कोई बडी वस्तु नहीं प्राप्त की जा सकेगी। औरतोंको हमने जो केवल औरत बनाकर ही रक्खा है, मनुष्य नहीं बनने दिया, उसका प्रायश्चित्त स्वराज्यके पहले देशको करना ही चाहिए। अत्यन्त स्वार्थकी खातिर जिस देशने जिस दिनसे केवल उसके सतीत्वको ही बड़ा करके देखा है, उसके मनुष्यत्वका कोई खयाल नहीं किया, उसे उसका देना पहले चुका देना ही होगा।

इस जगह एक आपत्ति यह उठ सकती है कि नारीके लिए सतीत्व वस्तु तुच्छ नहीं है और यह भी सम्भव नहीं कि देशके लोगोंने अपनी माँ-बहन-बेटियोको साध करके छोटा बनाकर रखना चाहा है। सतीत्वको मैं भी तुच्छ नहीं कहता, किन्तु इसीको उसके नारी-जीवनका चरम और परम श्रेय जाननेको भी मै कुसंस्कार समझता हूँ। कारण, मनुष्यका मनुष्य होनेका जो स्वाभाविक और सच्चा दावा है, उसे चकमा देकर जिस किसीने जिस किसी चीजको बड़ा करके खड़ा करनेकी चेष्टा की है, उसने उसे भी धोखा दिया है और आप भी ठगा गया है। उसने उसे भी मनुष्य नहीं बनने दिया और वैसे ही अनजानमें अपने मनुष्यत्वको भी छोटा कर डाला है। यह बात उसका बुरा करनेकी चेष्टामे भी सत्य है और उसका भला करनेकी चेष्टामे भी सच है। फ्रेडरिक दि ग्रेट (Frederic The Great) बहुत बड़े राजा थे। वह अपने देशकी और लोगोंकी भलाईके बहुतसे काम कर गये हैं; लेकिन अपनी प्रजाको उन्होंने मनुष्य नहीं बनने दिया। इसीसे उनको भी मरनेके समय

कहना पड़ा—"All my life I have been but a slave-driver !" अर्थात् मै अपनी जिन्दगी-भर गुलामोंको हॉकनेवाला ही रहा। अपनी इस उक्तिके भीतर वह कितनी बड़ी ग्लानि प्रकट कर गये है, इसे केवल जगदीश्वर ही जानते है।

अपने जीवनमें बहुत दिनतक मैने Sociology (समाजशास्त्र) का अध्ययन किया है। देशकी प्रायः सभी जातियोंको घनिष्ठ भावसे देखनेका सुयोग मुझे मिला है। मुझे जान पड़ता है, जिन्होने स्त्रियोके अधिकारको जितना कम किया है, ठीक उसी अनुपातसे वे क्या आर्थिक और क्या नैतिक सभी तरफसे छोटे हो गये है और इसकी उलटी दिशा भी वैसे ही सत्य है। अर्थात् जो जाति जितना ही संशय और अविश्वासका वर्जन करनेमे जितना समर्थ हुई है, जिन लोगोने नारीके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताके प्रवाहको जितना मुक्त कर दिया है, उनकी पराधीनताकी जंजीर भी उतनी ही खुल गई है। इतिहास-की ओर ऑख उठाकर देखो। इस पृथ्वीपर ऐसा एक भी देश न मिलेगा, जिस देशके लोगोने नारियोके मनुष्य होनेकी स्वाधीनताका अपहरण नही किया, फिर भी उनके मनुष्यत्वकी स्वाधीनताको दूसरी कोई प्रबल जाति छीनकर जोर करके उन्हे अपने अधीन रख सकी हो। कहीं भी नहीं रख सकी, रख भी नही सकती; जान पड़ता है, भगवान्का यह आईन ही नहीं है। हमारे अपने स्वाधीनताके प्रयत्नमे आज ठीक यही आशंका हमारी छातीके ऊपर सिलकी तरह बैठी है। जान पड़ता है, हमे यह कठिन काम सब कामोंके पहले करनेको बाकी रह गया है, जिसकी ॲगरेजके साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। कोई अगर कहे कि एशियामे ऐसे और देश भी तो है, जिन्होंने स्त्रियोंको रत्तीभर भी स्वाधीनता नहीं दी, पर उनकी स्वाधीनता अपहरण किसीने नहीं किया। अपहरण करेगा ही, यह बात मैं भी नहीं कहता। तो भी मै यह बात कहता हूँ कि उनकी जो स्वाधीनता आज भी बनी हुई है, वह बिलकुल ही भाग्यके जोरसे। भाग्यबल न रहनेपर अगर कभी यह वस्तु चली जाय तो हम लोगोंकी ही तरह केवल मात्र देशके पुरुषोका दल कंधा देकर इस भारी बोझको सुईकी नोक भर भी टससे मस न कर सकेगा। केवल तत्कालकी दृष्टिसे इस सत्यका व्यत्यय (उलट-पुलट) बर्मा देशमे देख पड़ता है। आज वह देश पराधीन

है। एक दिन उस देशमें नारीकी स्वाधीनता असीम थी। किन्तु जिस दिनसे पुरुषोंने इस स्वाधीनताकी मर्यादाको लॉघना शुरू किया उसी दिनसे, एक ओर जैसे वे आप अकर्मण्य, विलासी और हीन होने लगे वैसे ही दूसरी ओर नारीमे भी स्वेच्छाचारिता—मनमानी—शुरू हो गई और उसी दिनसे देशका अधःपतन होने लगा। मै इन लोगोंके अनेक शहरो, अनेक गॉवो, अनेक छोटे-छोटे खेडोंमें बहुत दिनोतक घूमा-फिरा हूॅ। मैंने देख पाया है कि उनका बहुत कुछ चला गया है, किन्तु एक बड़ी चीज उन्होंने अब भी नही गॅवाई। केवल नारियोंके सतीत्वको एक अत्यावश्यक वस्तु बनाकर उनकी स्वाधीनताको उनके भले होनेके मार्गको कॉटोंसे रूॅध नहीं दिया। इसीसे आज भी देशका रोजगार-धधा, आज भी देशका धर्म-कर्म, आज भी देशका आचार-व्यवहार वहॉ स्त्रियोके हाथमें है। आज भी उनकी नब्बे प्रतिशत स्त्रियॉ लिखना-पढ़ना जानती हैं, और इसीसे आज भी हमारे इस अभागे देशकी तरह उनके देशसे आनन्द नामकी वस्तु एकदम निर्वासित नहीं हुई। यह सच है कि आज उनका सारा देश अज्ञता, जड़ता और मोहके आवरणसे ढॅका हुआ है, किन्तु एक दिन जब उनकी नींद टूटेगी, ये सब नर-नारी एक साथ एक दिन जब ऑखें खोलकर जाग उठेंगे, उस दिन इनकी अधीनताकी जजीर—वह चाहे जितनी मोटी और भारी क्यों न हो—खुलकर गिर पड़नेमें घड़ी-भरकी भी देर न लगेगी; उसमें बाधा देनेकी शक्ति किसीमे नहीं है।

आज हममेसे बहुतोंकी ही नींद टूट गई है। मुझे विश्वास है कि इस समय देशमे ऐसा एक भी भारतवासी नहीं है जो इस प्राचीन पवित्र मातृभूमिके नष्ट गौरव और विलुप्त सम्मानको फिरसे जीता-जागता न देखना चाहे। लेकिन चाहनेसे ही तो कोई चीज नहीं मिल जाती, उसके पानेका उपाय करना होता है। इसी उपायके रास्तेमें सारी बाधा, सारे विघ्न, सारे मतभेद हैं और इसी स्थानपर एक वस्तुको अपने चिर जीवनका परम सत्य समझकर ग्रहण करने—उसका सहारा लेनेके लिए मै तुम लोगोंसे अनुरोध करता हूॅ। यह है केवल पराये अधिकारमें हस्तक्षेप न करना। जिसका जो दावा है, जो अधिकार है, वह उसे पाने दो, वह चाहे जहॉ और चाहे जिसका हो। यह मेरी पोथीमें पढ़ी हुई बात नहीं है, यह मेरी धार्मिक लोगोंके मुॅहसे सुनी हुई तत्त्वकी बात

नहीं है—यह मेरा लम्बे जीवनका बार-बार ठगाकर सीखा हुआ सत्य है। मैं केवल इतना-सा देकर ही जटिल समस्याकी आज भी मीमांसा करता हूँ। अगर नारी मनुष्य है और स्वाधीनतामें, धर्ममें, ज्ञानमें मनुष्यका दावा होना मैं स्वीकार करता हूँ तो वह दावा मुझे मंजूर करना ही होगा, उसका फल चाहे जो हो। भंगी-डोमको मैं अगर मनुष्य बनानेके लिए बाध्य हूँ और अगर यह मानता हूँ कि मनुष्यको उन्नति करनेका अधिकार है, तो उसके लिए मुझको राह छोड़ देनी ही होगी, फिर वह चाहे जहाँ जाकर पहुँचे। मैं बेकारकी जिम्मेदारी अपने सिर लेकर और किसी कारणसे उन लोगोंका हित करने नहीं जाता। मैं यह नहीं कहता कि बच्ची, तुम औरत जाति हो, तुमको यह नहीं करना चाहिए, यह नहीं कहना चाहिए, वहाँ जाना न चाहिए—तुम अपनी भलाई नहीं समझतीं; इसीसे मैं तुम्हारी भलाईके लिए तुम्हारे मुँहपर पर्दा और पैरोंमें बेड़ी डाले रखता हूँ। तुमसे भी बुलाकर नहीं कहता कि भैया, तुम जब डोमके घर उत्पन्न हुए हो—डोम हो, तब इससे अधिक चलना-फिरना तुम्हारे लिए अच्छा या मंगलप्रद नहीं है, इसलिए इस घेरेके बाहर पैर बढ़ाते ही मैं तुम्हारा पैर तोड़ दूँगा।

मैं कहता हूँ, जिसका जो दावा या अधिकार है, उसे वह सोलह आने ले। और गलती करना अगर मनुष्यके कामका ही एक अंश है, तो अगर वह भूल-चूक करे तो उसमें आश्चर्यकी ही क्या बात है! मैं दो-एक सलाह दे सकता हूँ, किन्तु मार-पीटकर, हाथ-पैरसे लूला-लँगड़ा करके, उसका भला करना ही होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी मेरी नहीं है। मैं अपने भीतर इतना अधिक अध्यवसाय ढूँढ़े नहीं पाता। बल्कि जान पड़ता है, वास्तवमें मुझ जैसे आलसी काहिल आदमी अगर दुनियामें दूसरे आदमियोंकी हिताकांक्षा कुछ कम करते, तो वे भी आरामसे रहते और दूसरे लोगोंका यथार्थ कल्याण भी शायद थोड़ा-बहुत होनेकी जगह पाता। देशका काम, देशका मंगल करनेके लिए खड़े होते समय तुम लोग मेरी यह बात न भूलो।

आज तुम लोगोंके आगे और भी बहुत-सी बातें कहनेको थीं। जैसे—सब ओरसे किस तरह सारा देश जीर्ण-जर्जर होता जा रहा है, देशकी जो रीढ़ हैं; वे ही भद्र गृहस्थ-परिवार कैसे, कहाँ, धीरे-धीरे लुप्त होते जाते हैं; वह आनन्द नहीं है, वह प्राण या जिंदादिली नहीं है, वह धर्म नहीं है, वह खाना-पहरना

नहीं है; समृद्ध भरे-पूरे प्राचीन गाँव आज प्रायः उजाड़ जनशून्य नजर आते हैं—बड़ी-बड़ी महल जैसी इमारतोंमें सियार-कुत्ते वास करते हैं: पीड़ित, निर्बोध, मृतकल्प लोग जो वहाँ आज भी पड़े हैं, उनकी आहार और जलके अभावसे कैसी दशा हो रही है, इन सब हजारों दुःखोंकी कहानी तुम लोगोंके तरुण हृदयके सामने उपस्थित करनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी; किन्तु अबकी मुझे समय नहीं मिला। तुम लौट आओ; तुम्हारे अध्यापक अगर मुझे भूल न गये तो मैं और एक दिन तुम्हें सुनाऊँगा।[१]

देशबन्धु चित्तरंजन

संस्मरण

जान पड़ता है, पराधीन देशका सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि मुक्ति-संग्राममें विदेशियोंकी अपेक्षा देशके आदमियोंके साथ ही मनुष्यको अधिक लड़ना पड़ता है। इस लड़ाईका प्रयोजन जिस दिन समाप्त हो जाता है, बेड़ियाँ आप ही खुलकर गिर जाती हैं। किन्तु लड़ाईका प्रयोजन समाप्त नहीं हुआ, देशबन्धु परलोकको चले गये। घर और बाहर लगातार युद्ध करनेके भारी भारको उनकी चोट खाई हुई घायल और बहुत ही थकी हुई देह आगे वहन नहीं कर सकी।

आज चारों ओर रोनेका आर्तनाद उठ रहा है; ठीक इतने बड़े रुदनकी ही आवश्यकता थी।

उनकी जिन्दगीके दिन इतनी जल्दी समाप्त होते आ रहे हैं, यह बात हम लोग जानते थे और वे स्वयं भी जानते थे।

उस दिन पटना जानेके पहले उन्होंने मुझे बुला भेजा। अस्वस्थताके कारण चारपाईपर पड़े थे। मेरे पास जाकर बैठते ही बोले—अबकी final (आखिरी) है शरत् बाबू।

---

१. बँगला सन् १३२८ के पौष मासमें शिवपुर इन्स्टीट्यूटमें पठित भाषण

मैंने कहा—आप तो कह चुके है कि स्वराज अपनी ऑखोसे देखकर जाइएगा ?

क्षणभर चुप रहकर बोले—उसके लिए समय नहीं मिला।

वह जिस समय जेलमे थे, तव कुछ आदमी जेलखानेकी दीवारको प्रणाम कर रहे थे। पूछनेपर उन्होंने कहा था कि हमारे देशवन्धु इस जेलके भीतर हैं। उनको ऑखोसे देखनेका तो उपाय नही है, इससे हम जेलकी दीवारको ही प्रणाम करते है। यह वात देशवन्धुने सुनी थी। मैंने वही स्मरण कराकर कहा—ये लोग आपको कैसे छोड़ देगे ? उनकी ऑखोमें ऑसू भर आये। थोड़ी देरमे अपनेको सॅभाल कर उन्होने और वात छेड़ दी। लगभग २० मिनटके वाद डाक्टर दासगुप्त घरके कोनेसे मेरी मोटी लाठी उठा लाये और मेरे हाथमे थमा दी। देशवन्धुने हॅसकर कहा—इशारा समझ गये शरत् वावू ? ये लोग हमे थोड़ी-सी वातचीत भी नहीं करने देना चाहते।

उस वातचीतका फिर हमें अवसर ही नहीं मिला।

लोग कहते हैं—इतना वड़ा दाता, इतना वड़ा त्यागी हमने नहीं देखा। दान हाथ फैलाकर लिया जाता है, त्याग ऑखोंसे देखा जाता है, यह सहजमे किसीकी दृष्टिसे नहीं छिपता।

किन्तु हृदयका निगूढ़ वैराग्य ? वास्तवमे सव प्रकारके कर्मोंके भीतर रहकर भी इतना वड़ा विरक्त निर्लिप्त मैंने और कोई नहीं देखा। जिसे ऐश्वर्यसे प्रयोजन न था, जो धन-सम्पत्तिके मूल्य या महत्त्वको किसी तरह समझ न पा सका, वह रुपये-पैसेको दोनों हाथोसे न लुटावेगा तो और कौन लुटावेगा ? एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था—लोग सोचते हैं, मैंने व्यक्ति-विशेषके प्रभावमे पड़कर झोकमें आकर प्रैक्टिस (वैरिस्टरी) छोड़ दी है। वे नहीं जानते कि यह मेरी वहुत दिनोंकी दिली ख्वाहिश थी; केवल त्यागका वहाना करके छोड़ दी है। इच्छा थी कि कुछ थोड़ेसे रुपये पास रख लूॅगा; किन्तु जव भगवान्की इच्छा नहीं है, तव यही मेरे लिए अच्छा है।

किन्तु इस महान् त्यागके मूलमे और एक छिपा हुआ व्यक्ति है। वह है वासन्तीदेवी। एक दिन उर्मिलादेवी (दासवावूकी वहन) ने मुझसे कहा था—दादाके इतने वड़े कामके भीतर जिस एक और आदमीका हाथ चुपचाप

काम करता है; वह है हमारी भाभी। नहीं तो दादा कितना क्या कर पाते, मुझे भारी सन्देह है। वास्तवमें, असहयोग (नान-को-आपरेशन) का तो पहले-से ही बहुत-कुछ देखा है, किन्तु सबके अलक्ष्यमें ऐसी आडम्बरहीन शान्त दृढ़ता, ऐसा धैर्य, ऐसा सदाप्रसन्न स्निग्ध माधुर्य और कहीं मुझे नहीं देख पड़ा। अत्यन्त अस्वस्थ स्वामीको उस दिन, अन्तिम बार, कौंसिल-भवनमें उन्होंने ही भेजा था। डाक्टरोंको बुलाकर बोलीं—गाड़ी हो, स्ट्रेचर हो, जो कुछ हो सके, उसका बन्दोबस्त तुम लोग कर दो। उन्होने जब जाना तय कर लिया है, तब पृथ्वीपर कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें रोक सके। वह पैदल जानेकी चेष्टा करेंगे, उसका फल यह होगा कि तुम लोग राहमें ही उनसे हाथ धो बैठोगे।

अथ च, वह आप साथ नहीं जा सकीं। राहकी ओर ताकती हुई सारे दिन चुपचाप बैठी रहीं। अँग्रेजीमें जिसे scene creat करना या तमाशा करना कहते हैं, उसीको वह सबसे अधिक डरती हैं। सब लोगोकी आँखें अपनी ओर आकृष्ट होनेकी कल्पनासे ही वह संकुचित हो उठती हैं। आज इसीकी भारतको सबसे बड़ी जरूरत है। जबतक घर-घर ऐसी ही सती-लक्ष्मी न जन्म लेंगी, तबतक देशके स्वतन्त्र होनेकी आशा बहुत दूर है।

आज चित्तरजनदासकी दीप्तिसे बगालका आकाश जगमगा उठा है। किन्तु दीपकका जो हिस्सा लौ बनकर लोगोंको दिखाई पडता है, उसके प्रज्वलित होनेमें केवल उतना ही उसका सारा इतिहास नहीं है। इसीसे, जान पड़ता है, संन्यासी चित्तरजनको रिक्त (खाली) कर लेनेमें भगवान्‌को जैसे दुविधा नहीं हुई, वैसे ही जब दिया था, तब देनेमें भी कोई कृपणता नहीं की।

आल इडिया काग्रेस कमेटीकी मीटिंगके उपलक्ष्यमें कहीं दूर पल्लेपर जानेका प्रयोजन होते ही मेरा न जाने कैसा दुर्भाग्य है कि जानेके ठीक पहले ही मैं किसी-न-किसी तरह सख्त बीमार पड जाता था। उस दफा दिल्ली जानेके पहले दिन देशबन्धुने मुझे बुलाकर कहा—कल उर्मिला भी आपके साथ जायँगी।

मैंने कहा—जो आज्ञा, यही होगा।

देशबन्धुने कहा—होगा तो जरूर, लेकिन सन्ध्याके बाद गाड़ीका समय है, कल तीसरे पहरतक आपकी तबीयत खराब हो जायगी, ऐसा तो नहीं आपको जान पड़ता ?

मैंने कहा—स्पष्ट देख पडता है, मेरे शत्रुओंने आपके आगे मुझे बदनाम किया है।

उन्होंने कहा—सो किया तो है; लेकिन बिस्तरपर पड़ जाते है, इसकी गवाही और प्रमाण भी तो नहीं है !

मुझे एक लड़केका किस्सा याद आ गया। उस बेचारेने बी. ए. तक पढ़कर भी नौकरी नहीं पाई। बड़े बाबूके पास दरख्वास्त करनेपर उन्होने नाराज होकर कहा कि मैंने जिसे नौकरी दी है, उसकी योग्यता अधिक है; वह बी० ए० फेल है।

उसके प्रत्युत्तरमे लड़केने विनयपूर्वक निवेदन किया—जी, परीक्षा देनेपर क्या मैं उसकी तरह फेल भी न कर सकता !

मैंने भी देशबन्धुसे कहा—मेरी योग्यता कम है, वे मेरी निन्दा करते हैं यह जानता हूँ; लेकिन यह अपवाद भी मैं किसी तरह चुपचाप नहीं मान ले सकूँगा कि मुझमें सोते रहनेकी भी योग्यता नहीं है।

देशबन्धुने हँसकर कहा—ना, आप नाराज न हों, आपकी इस योग्यताको वे मुक्तकंठसे स्वीकार करते हैं।

गया-कांग्रेससे लौटकर भीतरी मतभेद और मनोमालिन्यसे जब हमारे चारो ओर बादल घिर उठे, इस बंगदेशमें जितने अँगरेजी और बंगलाके अखबार है, लगभग उन सभीने गला मिलाकर समान स्वरसे उनका स्तुति-गान शुरू कर दिया, तब उनको अकेले ही भारतके एक छोरसे दूसरे छोरतक जिस तरह युद्ध करते घूमते मैंने देखा है, उसकी तुलना, मैं समझता हूँ, जगत्के इतिहासमे नहीं है। एक दिन मैंने उनसे पूछा था—संसारमे कोई भी विरुद्ध अवस्था क्या आपको दबा नहीं सकती ? देशबन्धुने जरा हँसकर कहा था—तो फिर क्या मेरी जान बचती ? पराधीनताकी जो आग इस हृदयके भीतर दिन-रात जलती है, वह तो घड़ीभरमे ही मुझे भस्म कर देती।

साथी नहीं हैं, धन नहीं है, हाथमें एक अखबार नहीं है; जो लोग बहुत छोटे हैं, वे भी गाली-गलौजके बिना बात नहीं करते; देशबन्धुकी वह कैसी अवस्था थी ! धनके अभावसे हम लोग अस्थिर हो उठते थे, केवल अस्थिर नहीं होते थे वह स्वयं।

एक दिनकी बात याद आती है। उस समय रातके नौ या दस बजे होंगे। बाहर पानी बरस रहा था और मैं, सुभाष (नेताजी) और वह, सियालदहके पास एक बड़े आदमीके बैठक-खानेमें चन्देमे कुछ रुपए पानेकी आशासे बैठे हुए थे। मैं झल्लाकर कह उठा—गरज क्या एक आपकी ही है ? देशके आदमी अगर सहायता करनेमें इतने विमुख हो उठे हैं तो रहने दीजिए।

मेरा मन्तव्य सुनकर जान पड़ता है, देशबन्धुके मनपर चोट पहुँची। बोले—यह ठीक नहीं है शरत् बाबू। दोष हम लोगोंका ही है। हम लोग ही काम करना नहीं जानते। हम लोग ही उनसे अपनी बात समझाकर नहीं कह पाते। बंगाली जाति भावुक है, बंगाली कृपण नहीं है। एक दिन वे जब समझेंगे, तब अपना सर्वस्व लाकर हमारे हाथमें सौंप देंगे।—ये सब बातें कहते-कहते उत्तेजनासे उनकी आँखें चमक उठीं। इस बंगाल देश और यहाँके लोगोंको वह कितना प्यार करते थे, कितना विश्वास करते थे ! जैसे किसी तरह उनकी कोई त्रुटि वह नहीं खोज पाते थे।

इस बातका उत्तर और क्या था। मैं चुप हो गया। किन्तु आज जान पड़ता है, वास्तवमें इतना प्यार किये बिना यह असीम शक्ति ही वह भला कहाँसे पाते ? लोग रोते हैं—महापुरुषके लिए देशके लोग इससे पहले और भी अनेक बार रोये हैं—उस रोनेको मैं पहचानता हूँ। किन्तु यह रोना वह रोना नहीं है। अत्यन्त प्रिय, बिलकुल ही अपने आदमीके लिए मनुष्यके हृदयके भीतर जैसी शोककी आग जलती है, यह वही है। और हम, जो उनके आसपास रहते थे, हमारे पास तो वह भयानक दुःख प्रकट करनेकी भाषा भी नहीं है, और दूसरोंको जताना अच्छा भी नहीं लगता। हम लोगोंमेंसे बहुतोंके मनसे देशका काम करनेकी धारणा जैसे धीरे-धीरे अस्पष्ट हो गई थी। हम करते थे देशबन्धुका काम। आज वह नहीं है, इसीसे रह-रहकर यही खयाल मनमें

आता है कि अब काम करके क्या होगा! उनके सभी आदेश क्या हमारे मनके माफिक होते थे? हाय रे, हमारे नाराज होनेकी, रूठनेकी जगह भी आज जाती रही! देशबन्धु जहाँ और जिसपर विश्वास करते थे, उनका वह विश्वास असीम होता था। उसके बारेमें वह जैसे एकदम आँखे बन्द कर लेते थे। इसके कारण हम लोगोंकी बहुत क्षति हुई है, किन्तु हजार प्रमाण देनेपर भी उनके इस विश्वासको विचलित करनेका उपाय न था।

उस दिन बरीसालकी राहमें स्टीमरपर था। केबिनके भीतर रोशनी बुझी हुई थी। मैंने समझा था कि पासके बिछौनेपर देशबन्धु सो गये हैं। बहुत रात बीते एकाएक उन्होंने पुकारकर कहा—शरत् बाबू, क्या सो गये?

मैंने कहा—जी नहीं।

उन्होंने कहा—तो चलो, डेकपर चलकर बैठें।

मैंने कहा—वहाँ तो उड़नेवाले कीड़ोंका भयानक उत्पात है।

देशबन्धुने हँसकर कहा—बिछौनेपर सोकर छटपटानेकी अपेक्षा वह कहीं अच्छा है—सुगमतासे सहा जा सकता है। चलिए।

दोनों जने डेकपर आकर बैठे। चारों ओर घना अँधेरा था। बादलोंसे घिरे हुए आकाशमें, जहाँ-जहाँ बादलोंमें फाँक थी, वहाँ-वहाँ बीच-बीचमें तारे दिखाई देते थे। नदीके असंख्य टेढ़े-मेढ़े मोड़ोंमें घूम-फिरकर स्टीमर चला जा रहा था। उसकी दूरतक फैली हुई सर्चलाइटकी रोशनी कभी किनारेपर बँधी नावोंकी छतपर, कभी वृक्षोंकी चोटीपर, कभी मल्लाहोंकी झोपड़ियोंके ऊपरी हिस्सेपर जाकर पड़ रही थी। देशबन्धु बहुत देरतक चुपचाप सन्नाटेमें बैठे रहनेके बाद एकाएक कह उठे—शरत्बाबू, नदीमातृक[1] शब्दका सच्चा अर्थ क्या है, इस बातको वे लोग जानते ही नहीं, जिन्होंने इस देशमें जन्म नहीं लिया। यह हम लोगोंको चाहिए ही चाहिए।

देशबन्धुकी इस बातका मतलब मैं समझा, किन्तु चुप रहा। इसके बाद वह आप ही आप अकेले कितनी ही बातें कहते गये। मैं चुप बैठा रहा। उत्तर देनेका प्रयोजन न था; कारण, वे सब प्रश्न नहीं, एक भाव या उद्गार थे। न

१. नदीमातृकका अर्थ है नदियाँ जिस देशका पालन-पोषण माताकी तरह करती हैं।

जाने किस कारणसे उनका कवि-हृदय उमड़ पड़ा था।

एकाएक उन्होने पूछा—आप चरखेपर विश्वास करते है ?

मैंने कहा—आप जिस विश्वासका इशारा कर रहे है, वह विश्वास मै नहीं करता।

देशबन्धुने कहा—क्यों नहीं करते ?

मैंने कहा—जान पड़ता है, बहुत दिनों बहुत चरखा कातनेके कारण।

देशबन्धुने क्षणभर चुप रहकर कहा—इस भारतवर्षके तीस करोड़ लोगोंमे अगर पॉच करोड आदमी भी सूत कातने लगें तो साठ करोड़ रुपयेका सूत तैयार हो सकता है।

मैंने कहा—हो सकता है। दस लाख आदमी मिलकर एक घरके बनानेमें हाथ लगावें तो डेढ़ सेकेंडमें घर बनकर तैयार हो सकता है। हो सकता है, आप विश्वास करते हैं ?

देशबन्धुने कहा—ये दोनों एक चीज नहीं है। लेकिन मै आपका मतलब समझ गया। वही 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी' कहावत। लेकिन तो भी मैं विश्वास करता हूँ। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि चरखा कातना सीखूँ; किन्तु मुश्किल यह है कि हाथके किसी भी काममें मेरी कोई पटुता नहीं है।

मैंने कहा—भगवान् आपकी रक्षा करें।

देशबन्धु हॅसे। बोले—आप हिन्दू-मुसलिम एकतापर विश्वास करते हैं ?

मैंने कहा—नहीं।

देशबन्धु बोले—आपकी मुसलिम-प्रीति बहुत प्रसिद्ध है।

मैंने कहा—मनुष्यकी कोई भी अच्छी इच्छा गुप्त रहनेका उपाय नहीं है। मेरी यह ख्याति इतने बड़े आदमीके भी कानोंतक आकर पहुँच गई है। किन्तु अपनी प्रशंसा सुनकर मुझे सदैव लज्जा लगती है, इसीसे विनयके साथ मैंने सिर झुका लिया।

देशबन्धुने कहा—किन्तु आप क्या बता सकते हैं कि इसके सिवा और क्या उपाय है ? इसी बीचमें वे (मुसलमान) सख्यामें पचास लाख बढ़ गये है, और

दस वर्ष बाद क्या होगा, बताइए तो ?

मैंने कहा—यह यद्यपि ठीक मुसलिम-प्रीतिका निदर्शन नहीं है, अर्थात् दस वर्ष बाद क्या होगा, इसकी कल्पना करके आपका चेहरा जैसा सफेद हो उठा है, उससे तो मेरे साथ आपका बहुत अधिक अन्तर नहीं जान पड़ता। सो वह चाहे जो हो, केवल संख्या ही मेरे विचारमें बड़ी चीज नहीं है। अगर ऐसा ही होता—संख्याका ही महत्त्व होता—तो चार करोड़ अँगरेज डेढ़ सौ करोड़ लोगोंके सिरपर पैर रखकर संसारमें न घूम पाते। नमःशूद्र, माले, नम, राजवंशी, पोद आदिको समेट लीजिए;[1] देशके बीच, दस आदमियोंके बीच इनका एक मर्यादाका स्थान निर्दिष्ट करके इन्हें मनुष्य बनाइए; स्त्री-जातिके प्रति जो अन्याय, निष्ठुर सामाजिक अविचार अर्सेसे चला आ रहा है, उसका प्रतिविधान कीजिए; फिर उधरकी संख्याके लिए आपको चिन्तित नहीं होना पड़ेगा।

नमःशूद्र आदि जातियोंकी लाञ्छनाके जिक्रसे उनके हृदयमें जैसे बरछी लगती थी। किसीने एक बार उनसे कहा था कि 'देशबन्धु' शब्दका एक और अर्थ चाण्डाल है। यह सुनकर वह आनन्दसे उत्फुल्ल हो उठे थे। जान पड़ता है, वे स्वयं उच्च कुलमें पैदा हुए थे, इसलिए उच्च जातिके दिये हुए बिना दोषके इस अपमानकी ग्लानिको उन निपीड़ित लोगोंके साथ समान भावसे भोग करनेके लिए उनका हृदय आकुल हो उठता था।

वह व्यग्र होकर कह उठे—आप लोग दया करके मुझे इस राजनीतिके जालसे निकाल दीजिए, मैं उन्हीं लोगोंके बीचमें जाकर रहूँ। तब मैं बहुत अधिक काम कर सकूँगा। इतना कहकर वह, इन लोगोंके प्रति बहुत लम्बे समयसे हिन्दू समाज कितने अत्याचार करता आ रहा है, उन्हींका वर्णन एक-एक करके करने लगे। बोले—बेचारोंके धोबी-नाई नहीं हैं। घर छानेवाले उनका घर नहीं छाते। परन्तु, ये ही जब मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं, तब वे सब आकर खुशीसे इनका काम करने लगते हैं। अर्थात् हिन्दू ही प्रकारान्तरसे कहते हैं कि हिन्दूसे मुसलमान और ईसाई बड़े हैं। इस तरहका

१. बंगालकी अस्पृश्य अंत्यज जातियाँ

senseless (अचेत) समाज न मरेगा तो कौन मरेगा ? इतना कहकर वहुत देरतक स्थिर रहकर उन्होंने सहसा प्रश्न किया—आप हमारे अहिंस-असहयोगपर तो विश्वास करते हैं ?

मैंने कहा—नहीं। अहिंस या स-हिंस, किसी असहयोगपर मुझे विश्वास नहीं है।

देशवन्धुने हँसकर कहा—अर्थात् मैं देखता हूँ, हम लोगोंमें कहीं लेशमात्र भी मतभेद नहीं है।

मैंने इसके उत्तरमें कहा—एक दिन लेकिन सचमुच ही लेशमात्र मतभेद नहीं रहेगा। मैं इसी आशामें हूँ। इस वीच जितनी शक्ति मुझमें है, आपका काम कर दूँ। और केवल मतको लेकर ही क्या होगा। वसन्त मजूमदार, श्रीश चट्टोपाध्याय, ये तो देशके वड़े काम करनेवाले हैं। किन्तु अँगरेजोंके प्रति वसन्त वावूके विघूर्णित लाल नेत्रोंका अहिंस दृष्टिपात तथा श्रीश वावूका प्रेम-सिक्त विद्वेष-विहीन वादलका-सा गर्जन—इन दोनों चीजोंको देखने-सुननेसे आपको भी सन्देह नहीं रहेगा कि महात्माजीके वाद अहिंस असहयोगको अगर कहीं रहनेके लिए स्थान मिला है तो इन्हीं दोनों मित्रोंके मनमें। अथ च, इतना अधिक काम भी भला कितने आदमियोंने किया है ? असहयोग आन्दोलनकी सार्थकता तो गणसाधारण अर्थात् Mass (जनता) के कारण है ? किन्तु इस मास (Mass) पदार्थके प्रति मुझमें कुछ अधिक या अतिरिक्त श्रद्धा नहीं है। ये एक दिनकी उत्तेजनामें एकाएक कुछ कर डाल भी सकते हैं; किन्तु लम्बे समयकी सहिष्णुता इनमें नहीं है। उस दफे ये झुंडके झुंड जेल गये थे; किन्तु झुंडके झुंड क्षमा माँगकर वहाँसे लौट भी आये थे। जो नहीं आये, वे शिक्षित मध्यवित्त गृहस्थोंके लड़के थे। इसीसे मेरा सव आवेदन-निवेदन इन्हीं लोगोंके निकट है। त्यागके द्वारा अगर कोई किसी दिन देशको स्वाधीन कर सकेगा तो केवल ये ही कर सकेंगे।

जान पड़ता है, इस जगहपर देशवन्धुके हृदयमें एक छिपी हुई व्यथा थी। वह चुप हो रहे। किन्तु जेलके जिक्रसे उन्हें एक और भारी क्षोभकी वात याद आ गई। वोले—यह दुराशा मैंने कभी नहीं की कि देश एकदम एक छलांगमें

पूर्ण स्वाधीन हो जायगा। किन्तु मैं स्वराज्यकी एक सच्ची नीव डालना चाहता हूँ। मै उस समय जेलके भीतर था; बाहर बड़े लाट वगैरह लोग, उधर साबरमती आश्रममें महात्माजी थे। उनकी किसी तरह राय नही हुई; हम लोगोका इतना बड़ा सुयोग नष्ट हो गया। मै जेलके बाहर होता तो किसी तरह इतनी बड़ी भूल न करने देता। भाग्य! भगवान्‌की लीला!

रात समाप्त होती आ रही थी! मैंने कहा—सोने न जाइएगा? चलिए।

'चलिए' कहकर वह उठ खड़े हुए।

मैने पूछा—अच्छा, इन रेवोल्यूशनरियों (क्रान्तिकारियो) के बारेमे आपका यथार्थ मत क्या है?

सामनेका आकाश साफ होता जा रहा था। वह रेलिंग पकड़कर कुछ देरतक ऊपर ताकते रहे। फिर धीरे-धीरे बोले—इनमेंसे बहुतोंको मैं बहुत प्यार करता हूँ; किन्तु इनका काम देशके लिए एकदम भयानक मारात्मक है। इस ऐक्टिविटी (हरकत) से देश कमसे कम पचीस वर्ष पिछड़ जायगा। इसके सिवा इसमें बहुत बड़ा दोष यह है कि स्वराज मिलनेके बाद भी यह चीज यहाँसे न जायगी। तब इसकी स्पर्द्धा और बढ़ जायगी, साधारणसे मतभेदमें एकदम सिविल-वार (गृहयुद्ध) छिड़ जायगा। खून-खराबी और मार-काटको मैं हृदयसे घृणा करता हूँ शरत्‌बाबू।

किन्तु ये बातें उन्होंने जब जितनी बार कहीं, अँगरेजी अखबारवालोने विश्वास नहीं किया, हँसी उड़ाई, व्यंग्य-विद्रूप किया। मगर मैं निश्चित रूपसे जानता हूँ कि रात्रिशेषके झुटपटे आकाशके नीचे, नदीकी छातीपर खड़े होकर उनके मुँहसे सत्यके सिवा और कुछ भी नहीं निकला था।

बहुत दिनों बाद और एक दिन रातको ऐसी ही निष्कपट सत्य बात उनके मुँहसे निकलते मैंने सुनी है। उस समय शायद रातके आठ बजे होंगे, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय महाशयको उनके घर पहुँचाकर लौटकर आया तो देखा, देशबन्धु सीढ़ीके ऊपर चुपचाप खड़े है। मैंने कहा—एक बात कहूँगा, नाराज तो न होंगे?

उन्होंने कहा—ना।

मैने कहा—बंगालमे आप जो कई यथार्थ बडे लोग है, आप लोग परस्पर एक-दूसरेको देखते ही जिस तरह पुलकित हो उठते हैं, शरीरमे रोमाच हो उठता है—

देशबन्धुने हँसकर कहा—बिलावकी तरह ?

मैने कहा—इस पापी मुखसे इस बातको मै कैसे व्यक्त कर सकूँ ! किन्तु कुछ न होनेसे—

देशबन्धुका मुख गम्भीर हो उठा। क्षणभर स्थिर रहकर धीरे-धीरे बोले—कितनी क्षति होती है, यह मुझसे अधिक कौन जानता है। कोई अगर इसकी राह कर दे सके तो मैं सबके नीचे, सबकी मातहतीमे काम करनेको राजी हूँ। लेकिन चकमा या ठगाई नहीं चलेगी शरत्बाबू।

उस दिन उनके मुखपर अकृत्रिम उद्वेगकी लिपि जो मैंने पढ़ी थी, वह कभी भूलनेकी नहीं। बाहरसे जो लोग उनको यशका कंगाल कहकर प्रचार करते हैं, वे बिना जाने कितना बड़ा अपराध करते हैं ! और चकमा या ठगाई ? वास्तवमे जिस आदमीने अपना सर्वस्व दे दिया है, बदलेमें वह चकमा कैसे सह सकेगा ?

और एक बात कहनेको है। बात अरुचिकर है। सतर्कता और अति-विज्ञताके खयालसे एक बार सोचा था कि कहनेकी जरूरत नहीं है; लेकिन बादको समझ पड़ा कि उनकी स्मृतिकी मर्यादा और सत्यकी रक्षाके लिए उसे कह डालना ही अच्छा है। अबकी फरीदपुरकी कान्फ्रेन्समे नहीं गया। वहाँका रत्ती-रत्ती सब हाल मैं नहीं जानता; किन्तु वहाँसे लौटकर अनेक लोगोंने मेरे आगे ऐसे सब मन्तव्य प्रकट किये, जो प्रिय नहीं हैं, अच्छे भी नहीं हैं। उसमेंसे अधिकाश ही क्षोभकी बाते हैं और देशबन्धुके सम्बन्धमें वे एकदम असत्य है।

देशमे रिवोल्यूशनरी (क्रान्तिकारी) और गुप्त समितियोंके अस्तित्वके लिए कुछ दिनोंसे देशबन्धु अपनेको विपन्न जान रहे थे। उनकी मुश्किल यह थी कि जो लोग स्वाधीनताके लिए अपने प्राणोंकी बलि देनेको तैयार थे, उनको बिलकुल न प्यार करना भी जैसे उनके लिए असम्भव था, वैसे ही उनको प्रश्रय देना भी उनके लिए असम्भव था। क्रान्तिकारियोंकी चेष्टाको देशके

लिए अत्यन्त अकल्याणका कारण जानकर वह बहुत डरने लगे थे। उनकी गुप्त समितिका उल्लेख करके उन्होने एक दिन मुझसे बंगलामे एक अपील लिख देनेको कहा था।

मैं लिख लाया—“अगर तुम लोग कहीं होओ, अगर तुम अपने मत-वादको सम्पूर्णरूपसे छोड़ न भी सको, तो कमसे कम ५–७ सालके लिए भी अपनी कार्य-पद्धतिको स्थगित रखकर, हम लोगोंको प्रकाश्यरूपसे स्थिरचित्तसे काम करने दो—इत्यादि इत्यादि।”

किन्तु मेरी इस ‘अगर’ पर घोरतर आपत्ति करके उन्होंने कहा—सत्ताईस वर्षसे assuming but not admitting (जानना, पर स्वीकार न करना) करता आया हूँ लेकिन अब और धोखा न दूँगा। मैं जानता हूँ कि वे लोग हैं; ‘अगर’ निकाल दीजिए इसमेसे।

मैंने आपत्ति करके कहा—आपकी इस स्वीकृतिका फल देशके लिए अत्यन्त हानिकर होगा।

देशबन्धुने जोर देकर कहा—ना। सच बात कहनेका फल कभी बुरा नहीं होता।

कहनेकी जरूरत नहीं, मैं इसके लिए राजी नहीं हो सका, और वह अपील भी प्रकाशित नही हो सकी। देशबन्धुने मुझसे कहा था—जो लोग ये सब काम करते हैं, जान बूझकर ही करते हैं; किन्तु जो लोग कुछ नहीं करते, वे ही गवर्नमेंटके हाथसे अधिक सताये जाते और कष्ट पाते हैं। सुभाष, अनिलवरण, सत्येन्द्र आदिके लिए उनकी मानसिक पीड़ाकी सीमा नहीं थी। सुभाषचन्द्रको कार्पोरेशनका काम देने के बाद उन्होंने एक दिन मुझसे कहा था—I have sacrificed my best man for this corporation, (मैंने अपने सर्वश्रेष्ठ आदमीको इस कार्पोरेशनके लिए बलिदान कर दिया।) और उन्हीं सुभाषको जब पुलिस पकड़ ले गई, तब उन्हे दृढ़ विश्वास हो गया कि उनको सब ओरसे अक्षम और अकर्मण्य कर देनेके लिए ही गवर्नमेंट उनके हाथ-पैर काटकर पगु बनाती जा रही है।

उनके फरीदपुरके अभिभाषणके बाद माडरेट (नरम) दलके लोग उत्फुल्ल होकर कहने लगे—अब तो कोई प्रभेद नहीं रहा। आओ, अब छातीसे छाती

मिलाकर एक हो जायँ। अँगरेजी अखबारवालोंके दलने उनके 'जेसचर' का अर्थ और अनर्थ करके गाली दी या प्रशसा की, ठीक समझमे ही नहीं आया। उनके अपने दलके लोग मुँह फुँलाये ही रहे; किन्तु इस सम्बन्धमें एक बात मुझे कहनी है।

असाधारण कार्यकर्ताओंमें एक बड़ा दोष यह होता है कि वे अपने सिवा और किसीकी कर्म-शक्तिपर आस्था नहीं रख सकते। अबकी बार बीमारीसे जब देशबन्धु चारपाईपर पड़े थे और जान पड़ता है, परलोकका बुलावा उनके कानोतक पहुँच गया था, तब एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था—शरत्बाबू, समझौता करना जिसने नहीं सीखा, जान पड़ता है, इस जीवनमें उसने कुछ नहीं सीखा। Tory Government is the cruellest Government in the world. (अनुदारदलकी गवर्नमेंट दुनियामे सबसे बढ़कर बेरहम गवर्नमेंट है। पृथ्वीपर ऐसा कोई अनाचार नहीं है, जिसे ये नहीं कर सकते। पर समझौता और मिटमाट कर लेनेमें भी, जान पडता है, ऐसा मित्र और नहीं है। जालियानवाला बागकी याद घड़ीभरके लिए भी देशबन्धुके हृदयसे दूर नहीं हुई।

एक बार एक सभाके बाद गाडीके भीतर मुझसे उन्होंने प्रश्न किया था कि बहुतसे लोग मुझे सलाह देते हैं कि फिर प्रैक्टिस (बैरिस्टरी) करके देशके लिए रुपये कमाऊँ। आप क्या कहते है?

मैंने कहा—ना। रुपयोंके कामका अन्त है; किन्तु इस आदर्शका कोई अन्त नहीं है। आपका त्याग सदैव हमारी जातीय सम्पत्ति बनकर रहे। यह हमारे लिए असख्य रुपयोसे भी कहीं बड़ा है।

देशबन्धुने कुछ उत्तर नहीं दिया। हँसकर चुप हो रहे। इस हँसी और चुप रहनेका मूल्य हम लोग समझ सकें—इससे बड़ी कामना और नहीं है।[१]

---

१. बंगला सन् १३३२ की मासिक वसुमती पत्रिकाकी आषाढकी देशबन्धुस्मृति-संख्यासे लिया गया।

शिक्षाका विरोध

इतने दिनोंसे देशमे शिक्षाकी धारा निरुपद्रव मार्गसे चली आ रही थी। वह भली है या बुरी, इस विषयमे किसीको कोई चिन्ता या उद्वेग न था। मेरे पिता जो पढ़ गये हैं, वह मै भी पढ़ूँगा। इसके द्वारा जब वह दो पैसे जमा कर गये है, साहब-सूबोंके दरबारमे कुर्सी पा गये है, तब मै ही भला क्यों न यह सब कर सकूँगा? मोटे तौरपर यही हमारे देशके सोचनेका ढंग था। अचानक एक भयानक ऑधी आई। कुछ दिनोंसे सारा शिक्षाका विधान ही नींवसमेत इस तरह हिलने लगा कि एक दल कहने लगा, वह गिर जायगा। अन्य दल जोरसे सिर हिला-हिलाकर कहने लगा—ना, डरो नहीं—गिरेगा नहीं। गिरा भी नहीं। इस बातको लेकर उन्होंने प्रतिपक्षको खूब कड़ी और कटु बातोकी बाणवर्षासे जर्जर कर दिया। इसका कारण था। मनुष्यकी शक्ति जितनी घटती जाती है, उसकी जीभका विष उतना ही उग्र हो उठता है। बाहर उन्होने खूब गॉलियॉ दी, किन्तु हृदयके भीतर भरोसा अधिक नहीं पाया। यह भय उनके मनके भीतर रही गया कि दैवयोगसे अगर और किसी दिन हवाने जोर पकड़ा तो यह नींवसे हिला हुआ और डगमगाता हुआ अतिकाय भवन कलाबाजी खाकर गिरनेमे क्षणभरकी देर न करेगा।

ऐसी जब अवस्था थी, तब श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर विलायतसे लौट आये और पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाओंके मिलनके सम्बन्धमे एकके बाद एक अपने कई भाषणोंमे उन्होने अपना मतामत प्रकट किया।

रवीन्द्रनाथ मेरे गुरु-तुल्य पूजनीय हैं। अतएव मतभेद रहनेपर भी उसे प्रकट करना मेरे लिए कठिन है। केवल यही भय होता है कि कहीं बिना जाने उनके सम्मानको कहींपर आघात न कर बैठूँ। किन्तु यह तो केवल व्यक्तिगत मतामतकी आलोचना नहीं है—जो उनका भी बहुत पूज्य है, उसी देशके साथ यह जुड़ा हुआ है। उनके कथनको लेकर कई एक ऐंग्लो-इंडियन अखबार दकदम उल्लसित हो उठे हैं। रह-रहकर उनके पेंचीले उपदेश बराबर चल रहे है। और कुछ न हो, इस देशकी हिताकांक्षासे जब

उनका हृदय फटने लगता है, तब भय होता है कि इसके भीतर कहीं कोई बड़ा भारी दोष है। खास करके बंगालीके द्वारा चलाये जानेवाले एक ऐंग्लोइण्डियन अखबारका मुँह तो बन्द ही नहीं होता। अपनी बुद्धिसे कविकी बातोंको विकृत करके, तोड़-मरोड़कर वह लगातार कह रहा है—हम लोगोंने कह-कहकर अपना गला फाड़ डाला, पर कुछ फल न हुआ। अब रविबाबूने आकर रक्षा कर दी। यथा—

"And if there were any among educated Bengalees, who were wavering and vacillating, knowing not what to do,—to exclude the West or to stick to the East—Ravindranath's recent Calcutta lectures have gone a great way towards making up their minds. They have given up their sitting-on-the-fence posture. They have jumped off on the Western side."

अर्थात् हम जो शिक्षित बंगाली घेरेके अग्रभागमें बैठे हुए थे, वे हिल रहे थे, डावाँडोल हो रहे थे और नहीं जानते थे कि क्या करें—पश्चिमका वर्जन करें या पूर्वसे चिपके रहें। रवीन्द्रनाथके हालके कलकत्तेके भाषणोंने उनके दिमागोंको ठीक करनेमें बड़ा काम किया अथवा उन्हें ठीक रास्ता दिखा दिया। उन्हें अपनी दशाका अनुभव हुआ और वे पश्चिमकी ओर फाँद पड़े।

सारांश यह कि हम देशके शिक्षित लोग घेरेकी चोटीपर खड़े थे। पश्चिमसे लौटे हुए कविका इशारा पाकर, रामका नाम लेकर, पश्चिमकी ओर ही फाँद पड़े! बच गये! इतने दिनोंमें शिक्षित समाजके लिए इस समस्याका एक समाधान हुआ! किन्तु शिक्षितजन जिसको लेकर इतना बड़ा हो-हल्ला करते हैं, उसके सम्बन्धमें, उन लोगोंके युक्ति-तर्कसे इसका क्या मूल्य ठहरता है जिन्हें ये शिक्षित लोग अज्ञ, अशिक्षित आदि विशेषणोंसे याद करनेमें रत्तीभर भी संकोचका अनुभव नहीं करते, यह भी एक बार तौल लेना अच्छा होगा। किन्तु मोटे तौरसे पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाके मिलनके बारेमें कविने असल बात क्या कही है, यह देख लेना चाहिए।

पहली बात उन्होंने यह कही है कि आजके दिन पश्चिम विजयी हुआ है, अतएव उस जयका कौशल उन लोगोंसे हमें सीखना चाहिए। अच्छी बात है। दूसरी बात यह है कि महायुद्धके बाद पश्चिम शोकाकुल होकर पूछ रहा है— भारतकी वाणी क्या है? अतएव उनको वह वाणी बता देना आवश्यक है। यह भी अच्छी बात है। मै जहाँतक जानता हूँ, असहयोगपथियोमेंसे कोई भी इस विषयमें कोई आपत्ति नहीं करता। तीसरी बात कविने उपनिषदके ऋषिवाक्यको उद्धृत करके कही है—'ईशावास्यमिद सर्वं' (यह सब ईश्वरका ही है), अतएव 'मा गृधः' (मत छीनो)। बहुत ही अच्छी बात है—इसमे किसीको विरोध नहीं है। सारी दुनियाके लोकसमाजमे यह भी कोई अस्वीकार नहीं करता कि यह एक तत्त्वकी बात नही है। अथ च, मनुष्यकी ऐसी बुरी आदत है कि वह सरल और सहज सत्यको किसी तरह सीधा-सीधा मानकर झगड़ेको मिटा न लेगा। अपने अपने स्वार्थ और प्रयोजनके माफिक, उसमें असख्य sub-clause (उपधाराएँ) और अगणित qualification (व्याख्याएँ) लाकर उसे ऐसा भाराक्रान्त अथवा जटिल बना देगा कि तत्त्वकी बात आप ही पहेली बन जायगी। तब उसे बिना संकोचके सत्य कहकर पहिचान लेना ही कठिन होगा। केवल इसी कारण उपस्थित सभी fact (तथ्य) संसारमे सत्यका 'चेहरा' लगाकर, मनुष्यके कामो और सोचने-विचारनेके ढगके भीतर अनधिकार-प्रवेश करके अपरिमेय अनर्थ खड़ा कर देते है।

कविने पहले ही कहा है—

"यह बात माननी ही होगी कि आजके दिन पृथ्वीपर पश्चिमके लोग विजयी हुए हैं। उन्होंने पृथ्वीको कामधेनुकी तरह दुहा है। उनका पात्र इतना भर गया है कि दूध बाहर निकला जा रहा है।......अधिकार उन्होने क्यों पाया है? निश्चय ही किसी एक सत्यके जोरसे।"

आजके दिन यह बात अस्वीकार करनेका उपाय नही है कि पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े दूधके पात्रोंमें वह गहरा मुँह डाले हुए हैं; किन्तु हम भूखे उपवास किये खड़े है।

यह एक फैक्ट (तथ्य) है। आजके दिन इससे किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। हम सत्य ही भूखे और उपवासी है; किन्तु इसीलिए

क्या मान लेना होगा कि यह अधिकार उन्होंने किसी सत्यके जोरसे पाया है ? और वह सत्य क्या हमको उनसे सीखना ही होगा ? लोहा धरतीपर गिर पड़ता है, पानीमें डूब जाता है, यह एक तथ्य है; किन्तु मनुष्य अगर इसीको चरम सत्य मानकर निश्चिन्त हो बैठता, तो आज नीचे पानीके ऊपर और ऊपर आकाशमें बने लोहेके बने जहाज दौड़ाते हुए न घूम सकते। उपस्थित कालमें जो तथ्य है, वही केवल आखिरी बात नहीं है। महीनेकी पहली तारीखको जिस आदमीने अपनी विद्याके जोरसे मेरी महीनेभरकी तनख्वाह जेब काटकर उड़ा दी और मुझको बालबच्चोंसमेत अनाहार भूखा रक्खा अथवा मेरे सिरपर एक लाठी मारकर सब पैसा-कौड़ी छीनकर रास्तेकी चाटकी दूकानपर बैठकर मजेसे भोज उड़ाया, यह घटना सत्य होनेपर भी किसी सच्चे अधिकारसे उसने ऐसा किया, यह मैं नहीं कह सकूँगा, अथवा मै स्वीकार नहीं कर सकूँगा। इसके सिवा गिरहकट किसी तरह यह न बता देगा कि रुपये-कहाँ रखनेसे गिरह काट-कर नहीं निकाले जा सकते, अथवा गुडा भी यह नहीं सिखा देगा कि किस तरह जवाबमें उसके सिरमें लाठी मारकर आत्मरक्षा की जाय ? यह बात अगर सीखनी ही हो तो और कहीं सीखी जा सकती है, कमसे कम उन लोगोंके पाससे तो नहीं।

कविने जोर देकर कहा है कि यह बात माननी ही होगी कि पश्चिम विजयी हुआ है और वह केवल अपनी सत्य विद्याके अधिकारसे। शायद यह मानना ही होगा। कारण, फिलहाल ऐसा ही देख पड़ता है। किन्तु यह बात किसी तरह नहीं मानी जा सकती कि केवल जय करनेके कारण ही यह जय करनेकी विद्या सत्य है, अतएव उसे सीखना चाहिए।

ग्रीस एक दिन पृथ्वीके रत्नभडारको लूट ले गया। रोमने भी यही किया था। अफगानोंने भी कम लूट नहीं की। किन्तु वह सत्यके जोरसे नहीं और वह सत्य होकर भी नहीं रही। दुर्योधनने एक दिन शकुनिकी विद्याके जोरसे विजयी होकर पाँचों पाण्डवोंको लबे अर्सेतक वनमें उपवास करनेके लिए लाचार किया था। उस दिन दुर्योधनका पात्र भी भरकर छलक पड़ा था, भोगके अन्नमें कहीं एक दाना भी कम नहीं पड़ा था। किन्तु उसको सत्य मान

लेनेसे युधिष्ठरको लौट आकर जीवनभर केवल पाँसेका खेल सीखनेमें ही बिताना पड़ता। अतएव संसारमें जय करने अथवा पराया छीन लेनेकी विद्याको ही एकमात्र सत्य समझकर उसके प्रति लुब्ध हो उठना मनुष्यकी बड़ी सार्थकता नहीं है। इसके सिवा जय क्या केवल विजेताके ऊपर ही निर्भर है ? अफगानोंने जब हिन्दुस्तानको जीता था तो क्या अपने गुणोंसे ? हिन्दुस्तानने अपने ही दोषोंसे देशको गँवा दिया था। उस त्रुटिके संशोधनकी विद्या उसके अपने ही पास थी, विजेता अफगानोसे सीखनेके लिए कुछ नहीं था। फिर ऐसे दृष्टान्त भी इतिहासमे दुर्लभ नहीं है, जब विजेता ही पराजितके निकट क्या विद्या, क्या धर्म, क्या सभ्यता और क्या शिष्टता-भद्रता, सभी कुछ सीखकर एक दिन मनुष्य हो गया था।

किन्तु यह किसने कहा कि विजेताके पास अगर सचमुच कोई विद्या हो तो उसे न सीखना चाहिए ? किसने कहा कि उसका द्वार पश्चिममुखी होनेके कारण उस विद्याको अहिदू कहकर उसका बायकाट करना होगा ? पदार्थ-विद्या, रसायनशास्त्र, अर्थशास्त्र—पश्चिमकी इन सब विद्याओंको सीखनेकी आवश्यकता नहीं है, यह कहकर कौन विवाद करता है ? विवाद अगर कुछ है तो उसकी विद्याके ऊपर नहीं; वह है उसके सिखानेका ढोंग करनेके ऊपर शिक्षाके बदले कुशिक्षाके विस्तारपर। इतने दिनोंतक इस तमाशेमे योग देकर पागलकी तरह सभी नाचते फिर रहे थे। अब एकाएक कुछ लोगोको होश आया है। उन्होने पीछे हटकर खड़े होकर इस धोखा-धड़ीको केवल उँगलीसे दिखा देनेकी चेष्टा की है। यही तो असलमें मतभेदका कारण है।

इस चीजको जरा स्पष्ट करके देखनेकी चेष्टा की जाय। पश्चिमकी पदार्थ-विद्या और रसायनशास्त्रकी जितनी तरक्की गत महायुद्धके समय हुई है, उतनी इतने थोड़े समयके भीतर शायद और कभी नहीं हुई। मनुष्यको मारनेके नये-नये कौशल जितना इन्होने निकाले है, उतना ही आनन्द और दम्भसे इनकी छाती फूल उठती है। इस विज्ञानकी सहायतासे आग लगाकर, जहरीली गैससे गाँवके गाँव, शहरके शहर नष्ट करनेके न जाने कितने कूट-कौशल इन्होने निकाले हैं और अगर कुछ दिन और यह युद्ध चलता तो और भी कितने

ही निकालते। जान पड़ता है, सौभाग्य और सभ्यताका इनका यही एकमात्र मानदण्ड है कि कौन कितने थोड़े परिश्रमसे कितने अधिक मनुष्योंकी हत्या कर सकता है। इनके नजदीक विज्ञानका यही सबसे बड़ा प्रयोजन है। इसे जो नहीं देख पाता, वह अन्धा है। मैं बहुत बड़ी कवि-कल्पना करके भी यह नहीं सोच पाता कि ये लोग यह विद्या दूसरे किसीको सिखा सकते हैं या सीखनेका मौका दे सकते हैं। यहाँपर बात उठ सकती है कि क्या इससे ऐसा कुछ भी आविष्कार नहीं हुआ, जिससे मनुष्यका कल्याण हो? हुआ क्यों नहीं। किन्तु उसे बिलकुल ही by-product (गौण उत्पादन) कहा जा सकता है।

इसपर कहा जा सकता है कि गौण उपज ही सही; किन्तु वह जब मनुष्यके हितके लिए है, तब उन विद्याओंको सीख कर भी तो हम मनुष्य बन सकते हैं। मैं कहता हूँ—शायद हो सकते हैं। किन्तु ठीक इस उपायसे नहीं। पश्चिमकी सभ्यताका अहंकार आकाशको छू रहा है। हमारे और हमारी जैसी और भी अनेक अभागी जातियोंके कंधेपर जब वे सवार हो जाते हैं, तभी घर और बाहर यह कैफियत देते फिरते हैं कि ये लोग देखने-सुननेमें मनुष्य-जैसे होनेपर भी ठीक-ठीक मनुष्य नहीं हैं। कमसे कम बालिग नहीं हैं, नाबालिग बच्चे हैं। बेलजियम जब नीग्रो लोगोंके देशमें जाकर रबड़के लिए नीग्रो लोगोंके ही हाथ काट देने लगा, तब वहाँके लोगोंने उसका यही कारण बताया था कि ये लोग हमारा हुक्म नहीं मानना चाहते। ये असभ्य हैं। इसीलिए हमने गले पड़कर इन्हें सभ्य बनानेका, मनुष्य बनानेका भार या ठेका जब लिया है, तब हमें यह काम करना ही होगा। इसीसे सिखानेके लिए इन्हें कठोर दण्ड देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'तथास्तु' कहनेके सिवा इसका और क्या जवाब है, यह मैं नहीं जानता। हमारे अर्थात् भारतवासियोंके सम्बन्धमें प्रश्न उठनेपर अँगरेज भी ठीक यही जवाब देते आ रहे हैं कि ये अर्द्धसभ्य हैं—नादान बच्चे हैं। इनके देशमें बहुत अधिक अन्न उत्पन्न होता है: किन्तु पीछे अबोध शिशुकी तरह अधिक मात्रामें खाकर ये बीमार न पड़ जायँ, इसी खयालसे इनके मुँहका कौर हम अपने देशको ढोये लिये जाते हैं, इन्हींके भलेके लिए! और रुपये-पैसे कहीं ये फिजूलखर्चीमें बर्बाद न कर दें, इसीसे दया करके हम ही सब खर्च किये देते हैं; यह भी इन्हींके मंगलके लिए।

इसी तरह भलाई करनेकी ये न जाने कितनी न चुकनेवाली कहानियोका जोर शोरसे प्रचार करते हैं—"कितना कष्ट करके सात समुद्र, तेरह नदी पार होकर इन्हे मनुष्य बनाने हम आये है; क्योकि सभ्य मनुष्य बनानेका पवित्र कर्तव्य (sacred duty) हम लोगोंका ही है। किन्तु आह,—हम तो परेशान हो गये! by law established (कानूनसे स्थापित) होकर इन इंडियनोको मनुष्य बनाते-बनाते ही हैरान हो रहे हैं, सुधारते-सुधारते मरे जाते हैं!"

भगवान् जानें, कब ये फिर यहाँसे by law disestablished (कानूनसे विस्थापित) होगे, यहाँसे हटेगे! कब हम लोग मनुष्य बनकर इन लोगोंको इस दुश्चिन्तासे मुक्त कर सकेगे! डेढ़ सौ वर्षोंसे तालीम देना चल रहा है, लेकिन हम मनुष्य न बन सके। कब बन सकेंगे, यह भी वे ही जानते हैं और जगदीश्वर जानते हैं। किन्तु इन डेढ़ सौ वर्षोंमे भी अगर हमारा यह मोह न मिटा हो कि इनकी शिक्षा-व्यवस्थामें हम सचमुच मनुष्य बन जायँगे, ये सचमुच ही हमे मनुष्य बनाकर अपनी मृत्युका अस्त्र अपनी इच्छासे हमारे हाथमे पकड़ा देनेके लिए व्याकुल हैं, तो मैं कहता हूँ कि हम लोगोंका कभी मनुष्य न बनना ही उचित है! भगवान कभी किसी दिन इन अभागोके ऊपर प्रसन्न न हों!

वास्तवमे यह बात समझना क्या इतना कठिन है कि विज्ञानकी जिस शिक्षासे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन जाता है, उसका आत्मसम्मान जागकर खड़ा हो जाता है, वह अनुभव करता है कि वह भी मनुष्य है, अतएव स्वदेशके भले-बुरेकी जिम्मेदारी केवल उसीकी है, और किसीकी नहीं—ऐसी शिक्षाकी व्यवस्था पराजितके लिए विजेता क्या कभी कर सकता है? उसके स्कूल-कालिज, उसकी शिक्षाकी व्यवस्था क्या वह अपने सर्वनाशके लिए ही तैयार कर देगा? वह केवल इतना-सा ही दे सकता है, जिससे उसके अपने काम सुश्रृंखलाके साथ चलें। उसकी अदालतोमे विचारका खर्चीला अभिनय करनेके लिए वकील, मुख्तार, मुंसिफ, हुक्मके माफिक जेलकी सजा देनेके लिए डिपुटी, सबडिपुटी, पकड़ लानेके लिए थानेके छोटे-बड़े दारोगा और सिपाही, स्कूलमे डुबलेकी पितृभक्तिकी कथा पढ़ानेके लिए दुर्भिक्षपीड़ित

मास्टर, कालिजमें भारतकी हीनता और जंगलीपनपर लेक्चर देनेके लिए नख-दन्त-हीन प्रोफेसर; आफिसमें रजिस्टर लिखनेके लिए जीर्ण-शीर्ण क्लर्क, इससे अधिक उसका शिक्षाविधान कुछ दे सकता है, यह आशा भी जो कर सकता है वह क्या नहीं कर सकता, यही मैं सोचता हूँ।

अथ च, कविने कहा है कि जीवित रहनेकी विद्या अथवा मनुष्य बननेकी विद्या केवल शुक्राचार्यके हाथमें है, जिनका घर आज पश्चिममें है। अतएव अगर हम मनुष्य बनना चाहते है तो आज हमें उनके आश्रमकी ओर दौड़ लगानी ही होगी। नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय—और कोई रास्ता नहीं है। अमृत-लोकका मनुष्य होकर भी कच (देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र) को उनका शिष्य बनना पड़ा था। बनना पड़ा था यह सच है, किन्तु कच उस विद्याको सहजमें नहीं प्राप्त कर सका था। उसे गुरुदेवका आहारतक बनना पड़ा था। किन्तु अब समय बदल गया है। हमारे दुर्भाग्यसे अगर गुरुदेवके भोजन-पर्वतक जाकर ही नाटक समाप्त हो जाय, तो तमाशेमें और कुछ बाकी नहीं रहेगा।

किन्तु हमको ही इतना दुःख, इतनी वेदना क्यों है? कविने कहा है—वह खालिस हम लोगोंका अपना ही दोष या अपराध है। लेकिन मैं इस कथनको पूरा-पूरा स्वीकार नहीं कर पाता। मुझे जान पड़ता है, प्रत्येक मनुष्यके दुःखके अध्यायमें ही उसके अपराधके अलावा और एक चीज है, जो उसका अदृष्ट है, जो उसकी दृष्टिके बाहर है और जिसके ऊपर उसका कोई जोर नहीं है। वैसे ही एक समग्र जातिके भी दुःखके मूलमें उसके दोषके अलावा एक ऐसी वस्तु है, जो उसके बूतेके बाहर साध्यातीत है। वह है उसका दुर्भाग्य। हमारे देशके इतिहासकी आलोचना या अध्ययन जिन्होने किया है, वे जान पड़ता है, मेरी इस बातको बिलकुल झूठ कहकर न उडा देंगे। हमारे दुःख और हीनताके मूलमें हमारा भाग्य भी बहुत-कुछ जिम्मेदार है, जिसके ऊपर हमारा कोई वश न था। किन्तु कविने इस बातपर सम्पूर्ण रूपसे अश्रद्धा या अविश्वास करके उपमाके मिससे एक कहानी कही है। वह कहानी इस प्रकार है—

"मान लो, एक बापके दो बेटे हैं। बाप स्वयं मोटर चलाते हैं। उनका भाव यह है कि दोनो लड़कोंमेंसे जो मोटर चलाना सीखेगा, उसीको मोटर

मिलेगी। दोनोंमे एक लड़का चालाक है, उसके कौतूहलका अन्त नहीं। वह बड़े गौरसे बारीकीके साथ देखता है कि मोटर कैसे चलती है। दूसरा लड़का सीधा भलामानुस है। वह भक्तिके साथ सिर झुकाये पिताके पैरोंकी ओर एकटक ताका करता है। पिताके दोनों हाथ मोटरके स्टेयरिंगको किधर किस तरह घुमाते हैं, उधर उसका ध्यान ही नहीं रहता। चालाक लड़केने मोटरके पुर्जोंको देख-भालकर उसे चलाना पूरे तौरसे सीख लिया और एक दिन वह अपने हाथसे गाड़ी निकालकर बैठ गया और जोरसे भोपू बजाकर चलाने लगा। गाड़ी चलानेका शौक इस तरह उसपर सवार हुआ कि बाप है या नहीं, यह भी होश उसे न रहा। इसके लिए उसके बापने उसे तलब करके गालमें थप्पड़ मारकर अपनी गाड़ी नहीं छीन ली। बल्कि इससे वह प्रसन्न ही हुए कि वह स्वयं जिस रथके रथी थे, लड़का भी उसी रथका रथी है। भलेमानुस लड़केने देखा, उसका भाई पकी फसलके खेतोको बर्बाद करके उसके भीतर दिन-दोपहरमें हवागाड़ी चलाता घूम रहा है, किसकी ताकत है जो उसे रोके। उसके सामने खड़े होकर बापकी दोहाई देनेका फल होता—मरणं ध्रुवम् (निश्चित मौत)। तब भी वह बापके पैरोंकी ओर ताकता रहा और बोला—मुझे अब कुछ न चाहिए।”

मेरी समझमें नहीं आया कि इस कथाकी सार्थकता क्या है। लड़के दोनों कौन है, यह अनुमान करना कठिन नहीं है; किन्तु एक लड़केके प्रति दूसरे लड़केका अकारण उपद्रव देखकर जो बाप प्रसन्न होता है, वह कैसा बाप है, यह समझमे नहीं आता! हाँ, यह बात अच्छी तरह समझमें आती है कि ऐसे बापके पैरोंकी ओर जो लड़का ताकता रहता है—वह बाप चाहे जितने बड़े रथका रथी क्यों न हो, उस लड़केका मरणं ध्रुवम्—मरण निश्चित है।

इसके बाद कविने इन दोनों लड़कोंका जीवन-वृत्तान्त भी दिया है। मोटर हाँकनेवाले लड़केने तो मैजिकसे विज्ञानके क्लासमें प्रमोशन पाया, लेकिन जिस लड़केका 'मरणं ध्रुवम्' था, वह अपने मैजिक और तन्त्र-मन्त्रको लिये ही पड़ा रहा। इस तन्त्र-मन्त्रके ऊपर कवि पहले भी कठोर कटाक्ष कर चुके हैं। उनके 'अचलायतन'में इस तन्त्र-मन्त्रको लेकर यथेष्ट हँसी उड़ाई जा चुकी है। जो लोग वाकिफ-हाल है, वे इसका विचार करेंगे; किन्तु मुझे

जान पड़ता है, यहाँपर यह बिलकुल व्यर्थ है।

मनुष्यके इतिहासमें यह एक प्राचीन तथ्य है कि विश्व-वस्तुके पीछे कोई एक अज्ञेय शक्ति है और आज बीसवीं सदीमें भी उसका अता-पता वैसा ही, उतना ही, अज्ञात है। उस अज्ञेय शक्तिको प्रसन्न करके अपना काम बनानेकी चेष्टा मनुष्य चिरकालसे करता आ रहा है। आज भी उसका कोई उपाय नहीं निकला, अथ च आज भी उसका अन्त नहीं हुआ। इस उपायके आविष्कारकी राहमें किस तरह वह प्रार्थना एक दिन मैजिकमें अर्थात् मन्त्र-तंत्रमें और मैजिक एक दिन प्रार्थनाका चेहरा बदलकर खड़ा हो जाता है, यह तर्क उठाकर लेखको बढ़ानेकी मेरी इच्छा नहीं। ईश्वरकी धारणाकी अभिव्यक्तिके इतिहासका यह अंश विज्ञानकी परिणतिके प्रश्नमें मुझे अप्रासंगिक जान पड़ता है।

वह चाहे जो हो, इस मोटर हॉकनेवाले लड़केकी उन्नतिका कारण और उस बापके पैरोंकी ओर ताकनेवाले लड़केके दुःखका विवरण कविने इस जगह एकदम स्पष्ट कर दिया है। यथा—

"पूर्वके देशोंमें हम लोग जिस समय रोग होनेपर भूत-प्रेत उतारनेवाले ओझाको बुलाते हैं, कोई मुसीबत पड़नेपर ग्रह-शान्तिके लिए ज्योतिषीके दरवाजे दौड़ते हैं, शीतला या चेचकको रोकनेके लिए शीतला देवीपर भरोसा करते हैं और शत्रुको मारनेके लिए मारण-उच्चाटनके मंत्र जपने बैठ जाते हैं, ठीक उसी समय पश्चिम महादेशमें वाल्टेयरसे एक औरतने पूछा था—सुना है, मन्त्र-बलसे झुंडके झुंड भेड़े मार डाले जा सकते हैं; यह क्या सच है? वाल्टेयरने जवाब दिया था कि निश्चय ही मार डाले जा सकते हैं, किन्तु उनके साथ उचित परिमाणमें संखिया रहना चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि योरपके किसी कोने-अँतरेमें जादू या तन्त्रमंत्रके ऊपर कुछ भी विश्वास नहीं है; लेकिन इस सम्बन्धमें संखिया विषके ऊपर विश्वास वहाँ सर्वसम्मत है। इसी कारण वे इच्छा करते ही मार सकते हैं और हम न चाह कर भी मर सकते हैं।"

कविका यह अभियोग अगर सच हो, तो फिर कहनेको और कुछ नहीं है। हम सबका मरना ही उचित है। यहाँतक कि संखिया खानेमें भी किसीको

आपत्ति न करनी चाहिए। किन्तु क्या यही सच है? वाल्टेयरको हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए। उनका जैसा पण्डित और ज्ञानी उस समय उस देशमें बहुत सुलभ नहीं था। अतएव यह बात उनके मुखसे निकलना कुछ भी अस्वाभाविक या अप्रत्याशित नहीं है। किन्तु उस जमानेमें अज्ञान और बर्बरताके कारण यह हमारा देश क्या इतना नीचे गिर गया था कि ठीक ऐसी ही बात कहनेवाला कोई आदमी यहाँ न था, जो कहे कि "भैया, भूतका ओझा न बुलाकर वैद्यके घर जाओ। मारना चाहो किसीको तो और रास्ता पकड़ो; केवल घरमे बैठकर एकान्तमे मारण मन्त्रका जप करनेसे ही कार्य सिद्ध न होगा?"

योरपका जय-गान करनेको मैं मना नहीं करता। अथवा जो हाथी गहरे गढ़ेमे गिर गया है, उसे लेकर आस्फालन करने या डींग मारनेकी भी मेरी रुचि नहीं है। किन्तु इसीलिए भूतके ओझा और मारण-उच्चाटन मंत्र-तन्त्रके इङ्गितको भी निर्विवाद हजम नहीं कर सकता। बंगला साहित्यमें 'गोरा' नामका एक अत्यन्त प्रसिद्ध उपन्यास है। कवि अगर उसे एक बार पढ़कर देखे तो देखेंगे कि उसके अत्यन्त स्वदेशभक्त ग्रन्थकारने गोराके मुँहसे कहलाया है—"निन्दा पाप है, मिथ्या निन्दा और भी पाप है और अपने देशकी मिथ्या निन्दाके बराबर पाप तो संसारमे थोड़े ही हैं।"

कविने कहा है कि जादू-मंत्रकी परिणति ही होती है विज्ञानमे। कोई वस्तु कितनी ओरसे परिणत हो उठती है, यह एक अलग बात है; किन्तु क्या यही ठीक है कि योरप अपनी जादू-विद्याका नाला एक छलॉगमें ही पार हो गया, और हम सारे देशके लोग मिलकर हाड़-गोड़ तोड़कर उसी कीचड़मे हमेशासे गड़े पड़े रहे? क्या यहाँ कोई न जानता था कि बाहरकी ओर यह विश्व एक बहुत बड़ी मशीन है; इसके अखण्ड अव्याहत नियमकी शृंखला जादू-विद्याके जोरसे नहीं टूटती; संसारमें जो कुछ होता है, उसका कोई-न-कोई कारण है, और वह कारण कड़े आईन कानूनसे बँधा है? अर्थात् ज्ञान-विज्ञानके यथार्थ जनक-जननी विश्व-जगत्मे कार्य-कारणके सत्य और नित्य सम्बन्धकी धारणा क्या इस अभागे पूर्वके देशमें किसीको नहीं थी? और क्या इस तत्त्वके

प्रचारकी चेष्टा पश्चिमसे न मँगा सकनेपर हम लोगोंके भाग्यमें मारण-उच्चाटन मन्त्र-तन्त्रसे अधिक और कुछ भी नहीं मिल सकता ! पश्चिमकी विद्यामें अनेक गुण रह सकते हैं, किन्तु उसने यदि हमारे मनमें अपने लोगोंके प्रति अनास्था ही ला दी हो, अपने यहाँके ज्ञान, अपने धर्म, अपने समाज-संस्थान, अपनी विद्या-बुद्धि आदि सब बातोंके ऊपर केवल अश्रद्धा ही उत्पन्न कर दी हो, तो जान पड़ता है कि लुभाये हुए मनसे पश्चिमके शुक्राचार्यकी ओर हम लोगोंका न ताकना ही भला है। वास्तवमें यह तो नास्तिकता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जिस शिक्षासे मनुष्य यथार्थ मनुष्य बन सकता है—कमसे कम उन लोगोंकी मनुष्य बननेकी जो धारणा है—वह उन्होंने हमको नहीं दी, देंगे नहीं, और मेरा विश्वास है कि वे दे भी नहीं सकते। इतने लम्बे समयतक पश्चिमका संसर्ग रहनेपर भी हम क्या बने हुए हैं, केवल इतना ही क्या इस बातका स्पष्ट प्रमाण नहीं है ? केवल यही शिक्षा हमने पाई है जिससे अपने लोगोंको सब विषयोंमें हीन समझकर उनके प्रति अवज्ञाका भाव और पाश्चात्य लोगोंके सब-कुछपर गहरी श्रद्धा हमारे मनमें उत्पन्न हो गई है और उनके भीतरका द्वार इस तरह बन्द होनेके कारण ही आज हमारी अवनति भी इतनी गहरी है। भीतरसे जाननेका तो रास्ता है नहीं, इसीसे केवल उनकी बाहरी साजसज्जा देखकर एक ओर अपने लोगोंके प्रति जैसे घृणा, वैसे ही दूसरी ओर उनके प्रति भक्तिकी उमंग भी एकदम सैकड़ों धाराओंमें फूट पड़ी है। इसीसे, एक दिन हमारे देशके लोगोंके एक दलने बिना विचारे यह तय कर लिया था कि ठीक उन लोगोंकी तरह बने बिना अब हमारी मुक्ति न होगी ! उनमें जातिभेद नहीं है, अतएव वह उठा देना चाहिए; उनमें स्त्रियोंको स्वाधीनता है, अतएव उसके बिना काम ही नहीं चल सकता; उनके यहाँ खाने-पीनेका कोई विचार या परहेज नहीं है, अतएव उसे उठा दिये बिना हमारी रक्षा नहीं है; उनके मन्दिर नहीं हैं, अतएव हमारे यहाँ भी गिरजोंकी व्यवस्था चाहिए; वे भाड़ेपर धर्मप्रचारक रखते हैं, अतएव हमारे यहाँ भी यह अत्यन्त आवश्यक है। इसी तरह न जाने कितनी बातें हैं ! केवल शरीरका चमड़ा बदलनेका कोई उपाय उन्होंने ढूँढ़े नहीं पाया, नहीं तो आज उन्हें पहचाना भी न जाता ! अथ च, मैं इसके दोष-गुणका

विचार नही करता, मैं सीधे स्वभावसे कहता हूँ, किसी दल या व्यक्तिविशेष-पर आक्रमण करनेकी मुझे लेशमात्र अभिरुचि नही है। मै केवल इसकी mentality ही आप लोगोंको बतलानेका प्रयास करता हूँ। यह जो विदेशके प्रति अकृत्रिम अनुराग और अपने देशके ऊपर घोर विरक्ति है, यह केवल उनके भीतरका रास्ता चिरदिन बन्द होनेके कारण ही सम्भवपर हुई थी। इसीसे इन लोगोंके ससर्गमें जो लोग आये थे, उनकी ऑखोंमे उन लोगोंके बाहरका मोह ऐसा सवार हो गया था कि इस तत्त्वका आविष्कार करनेमें उन्हें घड़ीभरकी भी देर नहीं लगी कि बाहरसे जितना या जो देखा जाता है, उसकी हूबहू नकल करनेसे ही हम तुरत मनुष्य बनकर उनके अन्तरके पंगतके भोजमे सरासर बैठ जा सकेंगे। संसारमे जो कुछ अज्ञात है, गोपन है, जिसके भीतर पैठनेकी राह नही है, उसके प्रति लोगोंके लोभकी सीमा नहीं रहती। इसीसे यह बात उन लोगोको स्वतःसिद्धकी तरह मान लेनेमें कहीं कुछ भी रुकावट नहीं हुई कि मनुष्य बनने-का सच्चा सजीव मंत्र केवल उनके इस निगूढ़ मर्मस्थानमे ही दबा पड़ा है, किसी तरह उसका पता पाये बिना हमारा यह मनुष्यजन्म सार्थक करनेका और कोई दूसरा रास्ता नही है। इस भ्रान्तिको ऑखे खोलकर देखनेका आज समय आ गया है।

असलमे शिक्षाका विरोध इसी जगहपर है। वह केवल देहके गढ़नमें नहीं है, वह भीतरकी आत्मामें है। यह जो शिक्षा-प्रणालीको लेकर बहस चल रही है कि उनकी शिक्षा बहुत महँगी है, इन बड़ी-बड़ी स्कूल-कालेजोकी इमारतोंका क्या होगा? क्या होगा हाथसे खींचे जानेवाले पखेका? हमे टेबिल-कुर्सीकी जरूरत नही है। हटा दो लम्बी तनख्वाहके इन विलायती प्रोफेसरोंको। उनका खर्च जुटानेमें ही देशके माता-पिता पागल हुए जाते है। इसी तरहकी सैकड़ो बाते कही जाती है। इनमेसे कोई भी झूठ नहीं है; किन्तु यह भी तब मुझे तुच्छ जान पड़ती है, जब सोचता हूँ कि पूर्व और पश्चिमकी शिक्षाका संघर्ष ठीक किस जगहपर है? इनके सच्चे मिलनमें यथार्थ बाधा कहॉपर है? यह काम क्या कुछ थोड़ा-सा साज-सामान बदले जानेसे ही हो जायगा? टेबिल-कुर्सीके बदले लंबी-लंबी चटाई बिछाकर, बिजलीके-पंखेके बदले ताड़का पंखा लाकर, या लंबी तनख्वाहके प्रोफेसरोंके बदले थोड़े वेतनके देशी

अध्यापकोंको रखकर अथवा बहुत हुआ तो विदेशी भाषाके माध्यमकी जगह स्वदेशी भाषाके लेक्चरका नियम करनेसे ही क्या दुःख दूर हो जायगा ? जब-तक उस शिक्षाकी व्यवस्था न की जायगी, जिससे देशका बहिर्मुख और अश्रद्धासे युक्त मन फिर एक बार अन्तर्मुख और आत्मस्थ हो, तबतक दुःख कभी दूर न होगा। चाहे मनका मिलना हो और चाहे शिक्षाका, वह केवल बराबरीवालोंमें श्रद्धाके आदान-प्रदानसे ही हो सकता है। ऐसे कगालकी तरह, भिक्षुककी तरह रहनेसे कुछ भी न होगा। होनेपर भी वह केवल बनावटी होगा। उसमें कल्याण नहीं, गौरव नहीं। देशको केवल हीनता और लांछना ही देगा, मनुष्यत्व कभी किसी दिन नहीं देगा।

मेरा यह सब कहना केवल बातकी बात नहीं है; उद्दीपनापूर्ण स्वदेशी लेक्चर नहीं है। सत्य ही जो मैंने सत्य समझा है, वही केवल आप लोगोंके आगे कह रहा हूँ। मनुष्यकी एक प्रकारकी शिक्षा है, जो खालिस व्यक्तिगत सुख और सुविधाकी खातिर मनुष्य प्राप्त करना चाहता है। जिस मैंटिलिटी या प्रवृत्तिसे हमारे इस देशमें कोई कोई साहबी लहजेमें अँगरेजी बोलनेको ही चरम उन्नति समझते हैं, और इस मैंटिलिटीके ही एक सीढ़ीके नीचेके लोग जहाज रेलगाड़ीमें साहबी पोशाकके बिना किसी तरह यात्रा नहीं करना चाहते। और यह चीज इतनी इतर, इतनी क्षुद्र है कि यह क्यों होती है; इसका क्या उद्देश्य है; इसकी आलोचना करनेमे भी घृणा मालूम होती है। किन्तु मैं निश्चय जानता हूँ कि इस छद्मवेशकी हीनता, यह अपनेसे ही अपनेको छिपानेका पाप तथा गहरी लाछना आप लोग अनायास ही समझ सकेंगे। और प्रसंगवश यह बात मैंने क्यों उठाई, यह भी समझना आप लोगोंको बाकी न रहेगा।

यहाँपर जापानकी बात याद करके कोई-कोई कह सकते हैं कि अगर यही सत्य है तो जापानने काहेके जोरसे अपनेको ऐसा बना लिया है ? उसका चालीस-पचास साल पहलेका इतिहास एक बार सोचकर देखो। सोचकर मैंने देखा है। पश्चिमके शुक्राचार्यकी चेलागिरीके जोरसे ही अगर वह आज इतना बड़ा हो गया हो तो हमने बड़प्पनको भी शुक्राचार्यके ही मानदण्डसे मापकर देखा है। किन्तु मनुष्यत्वके विकासका क्या वही आखिरी मानदण्ड है ?

जातीय जीवनमे इन दो सौ चार सौ वर्षोंकी घटना ही क्या उसका चरम इतिहास है ?

मैं जापानके इतिहासको नहीं जानता। उसके पास क्या था और अब क्या हो गया है, इस विषयसे मै अनभिज्ञ हूँ। किन्तु यदि यही उसकी पार्थिव उन्नतिके मूलमें है, यदि पश्चिमकी सभ्यताके चरणोमें उसके आत्मसमर्पणकी सूचना ही इससे मिल रही हो, तो जान पड़ता है, जोर गलेसे ऊँचे स्वरसे आनन्द-ध्वनि करनेका कोई विशेष कारण नहीं है। अगर ऐसा दुर्दिन कभी भारतको नसीब हो—वह अपने विगत जीवनके सारे ट्रेडीशन भूलकर इतना उन्नत हो उठे कि एक काले चमड़ेके सिवा पश्चिमके साथ उसका कोई भेद ही न रह जाय, तो भारतके भाग्यविधाता ऊपर बैठे-बैठे उस दिन हँसेंगे या अपने बाल नोचेंगे, यह कहना कठिन है।

कोई भी बड़ी चीज कभी अपने अतीतके प्रति श्रद्धा खोकर, अपनी शक्तिके प्रति विश्वास गँवाकर नहीं होती—हो ही नही सकती। उनकी जिस विद्याके ऊपर हम लोग इतना लुभाये हैं, उसे हम उनके सिरपर हाथ फेरकर ही सीख ले, या पैरोमे तेलकी मालिश करके ही प्राप्त करं, किन्तु यदि देशकी प्रतिभाके भीतर उसकी सृष्टि न हो उठे, उसकी जड़ यदि जातिके अतीतके मर्मस्थलको फाड़कर न निकली हो, तो उसका फल अत्यन्त क्षणस्थायी होगा। यह फूल-समेत वृक्षकी शाखा—वह रग और गधमे चाहे जितनी कीमती क्यों न हो—एक दिन अवश्य ही सूख जायगी। कोई भी कौशल उसे रोककर न रख सकेगा।

आज यह सत्य अच्छी तरह समझ लेनेका दिन आ गया है कि ठगकर डुबाकर ही हो अथवा छीन-झपटकर ही हो, अनेक देशोंसे खींच लाकर जमा करना ही देशकी सम्पत्ति नही है। यथार्थ सम्पत्ति देशके प्रयोजनके बीचसे ही तैयार होती है। उसके सिवा जो है, वह केवल भार है, बिलकुल कूड़ा-कर्कट है। दूसरोंका देखकर हम उस ऐश्वर्यके प्रति क्षुब्ध न हो उठे। हमारे ज्ञानने, हमारे अतीतने हमे यही शिक्षा दी थी। आज दूसरोंकी शिक्षाके मोहसे हमने अपनी उस शिक्षाको हेय मान लिया हो तो वह परम दुर्भाग्यकी बात है। यह जो ट्रामे, यह जो मोटरें रास्तोपर वायुके वेगसे दौड

रही हैं, यह जो घर-घरमें बिजलीके पखे चल रहे हैं, यह जो शहरोंमें 'प्रकाशकी मालाओंका आदि-अन्त नहीं है, यह जो सैकड़ों-हजारो विदेशी सभ्यताके तोड़-जोड़ या सामान विदेशसे ढोकर हमने घरमें जमा किये हैं, इनमेंसे कोई भी क्या हमारी यथार्थ सम्पत्ति है? विगत युद्धके दिनोंकी तरह अगर किसी दिन फिर इन चीजोंकी आमदनीका मूल सूख जाय, तो जादूके तमाशेकी तरह इनका अस्तित्व हमारे देशसे उठ जानेमें देर न लगेगी। इन सबकी हमने सृष्टि नहीं की, सृष्टि करना जानते भी नहीं। दूसरोंके पाससे ढोकर लाये हैं। आज उन सब चीजोंके विना हमारा काम नहीं चलता; अथ च, इनमेंसे कोई भी वस्तु हमारे यथार्थ प्रयोजनके भीतरसे तैयार नहीं हुई। यह जो देखा-देखीका प्रयोजन है, इसे यदि हम स्वय बना न सकें और छोड़ भी न सकें, तो दुष्ट-क्षुधाकी तरह वह केवल हमको एक ओर ललचावेगा और दूसरी ओर पीडित करता रहेगा। किन्तु पश्चिमने उनकी सृष्टि की है अपनी गरजसे। उनकी सभ्यतामें ये सब चीजे चाहिए। ये जो बड़े-बड़े जगी जहाज हैं, ये जो गोले-गोली-तोप-बदूक और गैसके नल है, ये जो हवाई जहाज और पनडुब्बियाँ हैं, ये सभी उनकी सभ्यताके अग-प्रत्यग हैं। इसीसे कोई भी चीज उनके लिए बोझा नहीं है। वही उन लोगोकी परिणति है, उनके नित नये आविष्कार देशकी प्रतिभाके भीतरसे ही विकसित हो रहे हैं। दूरके हम लोग लोभ कर सकते हैं, नितान्त निरीह ढगके बाबूगिरीके समान खरीद भी ला सकते हैं, किन्तु चाहे वाणिज्य जहाज हो चाहे मोटरगाड़ी, जबतक वह अपने लोगोकी जरूरतसे, अपने देशमें, अपने यहाँकी सामग्रीसे नहीं बनती, तबतक चाहे जिस तरह, चाहे जितने रुपये देकर ही हम खरीद लावें, वह हमारे देशका सच्चा ऐश्वर्य नहीं है। इसीसे मैंचेस्टरके महीन वस्त्र, ग्लासगोका लिनेन और मसलिन, स्काटलैण्डके ऊनी कपड़े—ये चाहे जितना हमारा जाड़ा दूर करें और चाहे जितना सौन्दर्य बढ़ावें—कोई भी हमारी यथार्थ सम्पत्ति नहीं है, सब खालिस कूड़ा-कर्कट है।

किन्तु मैं जरा अपने विषयसे हट गया। मै कहता था कि मनुष्य केवल सच्चे प्रयोजनसे ही सृष्टि कर सकता है और सृष्टि किये विना वह कभी सच्ची सम्पदा नहीं पाता। किन्तु दूसरेसे सीखकर मनुष्य अधिकसे अधिक

उतना ही तैयार कर सकता है, जितना उसने सीखा है। उससे अधिक वह सृष्टि नहीं कर सकता। सृष्टि करना शक्ति है। वह दिखाई नहीं पड़ती। यहाँतक कि पश्चिमके द्वारस्थ होनेपर भी नहीं। इस शक्तिका आधार है अपने ऊपर विश्वास और अपने ऊपर भरोसा—आत्मनिर्भरता। किन्तु जो शिक्षा हमे आत्मस्थ नहीं होने देती, अतीतकी गौरव-गाथाको मिटाकर आत्मसम्मानपर लगातार चोट करती है, कानोंको केवल यह सुनाती रहती है कि हमारे बाप-दादे केवल भूतोंके ओझा, मंत्र-तंत्र और ज्योतिषी आदिको ही लेकर व्यस्त थे, उन्हें कार्य-कारणके सम्बन्धका ज्ञान नहीं था और विश्वजगत्के अव्याहत नियमकी ही धारणा न थी—इसीसे हमारी यह दुर्दशा है, तो उस शिक्षामे चाहे जितना मजा हो, उसके साथ विना वाधासे गलेमिलौवल जरा देख-सुनकर करना ही अच्छा है।

पश्चिमकी सभ्यताके आदर्शमें मनुष्यको मारनेके सैकड़ों-करोड़ों मंत्र-तंत्र, दूसरोंके देशमे उसके मुँहका कौर छीन लेनेके उनसे भी अधिक कल-कारखाने—ये सभी उसके प्रयोजनसे उसके अपने ही भीतर पैदा हुए हैं, किन्तु ठीक उन्हीं सबका हमारे देशकी सभ्यताके आदर्शमे प्रयोजन है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु कविने कहा है कि उन्होंने ये सब वड़े काम निश्चय ही किसी एक सत्यके जोरसे किये हैं अतएव वह हमे सीखना चाहिए; क्योंकि उनकी विद्या सत्य है। और उसके वाद ही कहा है कि केवल विद्या ही तो नहीं, विद्याके साथ-साथ शैतानी भी है, अतएव उस शैतानीके योगसे ही उन लोगोंका मरण होगा।

हो सकता है। किन्तु जिस आदमीने केवल मारण-उच्चाटन विद्या सीखकर मंत्र-तंत्र जपना शुरू कर दिया है, उनके लिए यह निर्णय करना कठिन है कि क्या विद्या है और क्या शैतानी है। कविने हमारे मुँहमें एक वात ठूँसकर कहा है—

"यही वात तो हम वार-बार कहते हैं। भेद-बुद्धि जिनकी (पाश्चात्योंकी) इतनी उग्र है, इस सारे विश्वको गोल-गोल पिंडकी तरह एक कौरमें लील लेनेके लिए जिनके लोभने इतना वड़ा मुँह फैला रक्खा है, उनके साथ हमारा कोई कारवार नहीं चल सकता; क्योंकि वे आध्यात्मिक नहीं हैं, हम

आध्यात्मिक हैं। वे [अविद्याको ही मानते हैं, हम विद्याको। ऐसी दशामें उनकी सारी शिक्षा-दीक्षाको विशेष रूपसे त्याग करना चाहिए—उससे बचना चाहिए।"

ऐसी बात अगर किसीने कही भी हो तो मुझे जान पड़ता है, उसने कुछ अधिक अन्याय नहीं किया। भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र हिन्दू है या म्लेच्छ, यह कोई नहीं कहता। विद्याकी कोई जाति नहीं होती, यह बात सच है; किन्तु इसीसे यह कहना कि कल्चर या संस्कृतिकी भी कोई जाति नहीं है, किसी तरह सत्य नहीं। और उनकी शिक्षाको विषकी तरह छोड़नेके लिए अगर किसीने व्यवस्था दी हो तो वह केवल इसी कारण, विद्याके कारण नहीं। और अगर यही ठीक हो कि वे केवल अविद्याको ही मानते हैं और हम विद्याको मानते हैं, तो इन दोनोंके समन्वयका उपाय पुस्तकके भीतर, लेखके भीतर श्लोक उद्धृत कर करके हो भी सकता है, किन्तु वास्तव जगत्में एक-दूसरेको निगल जानेके सिवा और किस तरह समन्वय हो सकता है, मै नहीं जानता। जिनका निगल जाने लायक बड़ा फैला हुआ मुँह है, वे निगल ही लेंगे, मनु या उपनिषद्की दुहाई नहीं मानेंगे। कमसे कम अबतक तो नहीं मानी।

पश्चिमके इतने बड़े लंकाकाण्ड (प्रथम महायुद्ध) के बाद भी जो आज उसकी पूँछके ऊपर सन्धिपत्रोंके स्नेह-सिक्त कागज पर्तकी पर्त लपेटना जारी है और इतनी मारके बाद भी जो उसकी नाड़ी खूब सुस्थ और ताजी चल रही है, इसमें आश्चर्यकी बात क्या है? जिन्होंने वास्तवमें इस महायुद्धको छेड़ा था, उनके दोनों ही पक्ष बहुत सुस्थ देह और बहाल तबीयतसे बचे हुए हैं, जीवित हैं। जिन्हें मरना था, वे मरे। और फिर अगर आवश्यक होगा कभी, तो उन्हींको फिर मरनेके लिए इकट्ठा कर लिया जायगा।

अतएव इन लोगोंमेंसे अगर किसीने शोकाकुल चित्तसे, कविसे प्रश्न किया हो कि 'भारतकी वाणी क्या है?' तो सन्देह होता है कि वे कुछ मजाक कर रहे हैं! और इसीलिए उनको न्यौता देकर घरमें बुला लाकर एकान्तमें 'मा गृधः' (मत लोभ करो या मत छीनो) इस मंत्रसे वश किया जायगा—यह भरोसा कविको भले ही हो, पर मुझे नहीं है। कारण, बाघको विष्णु-मंत्र सुनानेसे वह वैष्णव होता है या नहीं, यह मैं नहीं सोच पाता।

और भी एक बात है। पश्चिमकी सभ्यताका एक बड़ा भारी मूल-मंत्र है standard of living (जीवनका मानदंड या रहन-सहनका दर्जा) बड़ा बनाना। हमारे देशकी मूल-नीतिके साथ इसके अन्तरकी आलोचना करनेका स्थान यहाँ नहीं है; किन्तु उनकी समाज-नीतिकी चाहे जैसी व्याख्या क्यों न की जाय, उसकी असल बात या लक्ष्य है धनी होना। उनकी सामाजिक व्यवस्था, उनकी सभ्यता, और उनके धन-विज्ञानके साथ जिसका साधारण परिचय भी है, वह इस सत्यको अस्वीकार नहीं करेगा। इस धनी होनेका अर्थ केवल संग्रह करना ही नहीं है, साथ ही साथ परोसीको भी धनहीन कर देना इसका दूसरा उद्देश्य है। नहीं तो केवल धनी होनेका कोई अर्थ नहीं रहता! अतएव कोई एक सारा महादेश यदि केवल धनी होना चाहे तो अन्यान्य देशोंको वह ठीक उसी परिमाणमे गरीब बनाये बिना रह ही नहीं सकता। तो भी यह एक बात नित्य बराबर याद रखनेसे दुरूह समस्याका समाधान आप ही हो जाता है। पश्चिमका मेद-मज्जागत संस्कार है, यही उसकी सारी सभ्यताकी नींव है। इस नींवके ऊपर ही उसका विराट् राजमहल आसमानको छू रहा है। इसीके लिए उसकी सारी शिक्षा, सारी साधना लगी हुई है। आज क्या हमारे कहनेसे, हमारे ऋषियोके वचनोंसे वह अपनी सारी सभ्यताके केन्द्रोको हिला देगा? हमारे संसर्गमें उसके बहुतसे युग बीत गये; किन्तु हमारी सभ्यताकी आँचतक उसने कभी अपने शरीरपर नहीं लगने दी। अपनेको ऐसा सावधान, ऐसा अलग, ऐसा पवित्र कर रक्खा है कि किसी दिन इसकी छाँह भी अपने ऊपर नहीं पड़ने दी। इस बहुत लंबे समयके बीच इस देशका राजाके मुकुटके कोहनूरसे लेकर पातालके कोयलातक जहाँ जो कुछ था, उसकी नजरसे बचा नहीं रहा। यह समझमे आता है; क्योंकि यही उसके लिए सत्य है, यही उसकी सभ्यताकी मोटी जड़ है। इसीसे वह अपने समाज-देहकी सारी सभ्यताका रस सोखता है; किन्तु आज खामखा अगर वह भारतकी आधिभौतिक सत्य वस्तुओंके बदले भारतके आध्यात्मिक तत्त्व पदार्थकी खोज कर रहा हो, तो हम खुशी मनावें या होशियार हों, यह सोचनेकी बात है।

योरप और भारतकी शिक्षाओंमें असलमें विरोध इसी जगहपर है—इसी मूलमे है। हमारा ऋषिवाक्य चाहे जितना अच्छा हो, उसे वे ग्रहण नहीं करेंगे;

कारण, उससे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वह उनकी सभ्यताका विरोधी है। और अपनी शिक्षा भी वे हमको नहीं देंगे। बात सुननेमें खराब लगती है, पर है सच। और दें भी तो उसमें जितनी भिक्षा है, वह न लेना ही अच्छा। बाकी अंश अगर हमारी सभ्यताके अनुकूल न हो तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं, कूड़ा है। उनकी तरह अगर हम औरोंको मारना न चाहें, पराये, मुँहका अन्न छीनकर खानेको ही अगर चूड़ान्त सभ्यता न मानें, तो उनका वह मारण मंत्र चाहे जितना सत्य हो, उसके प्रति निर्लोभ रहना ही भला।

और एक बात कहकर मैं इस प्रबन्धको समाप्त करूँगा। समयके अभावसे अनेक विषय नहीं कहे जा सके; किन्तु यह अवान्तर बात बिना कहे भी मैं नहीं रह सका कि विद्या और विद्यालय एक ही चीज नहीं हैं। शिक्षा और शिक्षाकी प्रणाली, ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। अतएव किसी एकका त्याग ही दूसरेका वर्जन नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्यालय छोड़ना ही विद्या-लाभका बड़ा मार्ग हो। आपात दृष्टिसे बात उल्टी मालूम पड़नेपर भी उसका सत्य होना असम्भव नहीं है। तेल जलमें नहीं मिलता, ये दोनों पदार्थ एकदम उल्टी प्रकृतिके हैं। तो भी तेलका दीपक जलाते समय जो आदमी उसमें पानी डालता है, सो केवल तेलको पूरा-पूरा जला देनेके लिए। जो लोग इस तत्त्वको नहीं जानते, उनमें थोड़ा-सा धैर्य रहना अच्छा है।[१]

महात्माजी

महात्माजी आज सरकारकी जेलमें हैं। भारतवासियोंके लिए यह समाचार कैसा और क्या है, यह केवल भारतवासी ही जानता है। तो भी सारा देश स्तब्ध हो रहा। देशव्यापी कड़ी हड़ताल नहीं हुई, शोकसे उन्मत्त नर-नारियोंके समूह सड़कोंपर, रास्तोंमें, नहीं निकल पडे, लाखों-करोड़ों सभा-समितियोंमें हृदयकी गहरी व्यथा निवेदन करने कोई नहीं आया, जैसे कहीं कुछ हुआ ही

१. बंगला सन् १३२८ में 'गौड़ीय सर्वविद्या-आयतन'में पढ़ा गया निबन्ध।

नहीं—जैसा कल था, आज भी सब ठीक वैसा ही है, कहीं रत्तीभर भी उलट-पटल नहीं हुआ—इस तरह समुद्रतटसे हिमाचलतक सब चुप हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? इतना बड़ा असम्भव काण्ड किस तरह सम्भव हुआ? नीचाशय ऐंग्लो-इंडियन अखबार जो जिसके मुँहमें आता है कहते है; किन्तु हर रोजकी तरह उस मिथ्याका खण्डन करनेको कोई उद्यत नही हुआ। जान पड़ता है, जैसे उनके भाराक्रान्त हृदयकी गम्भीरतम वेदना आज तर्क-वितर्कसे दूर है।

जानेके पहले महात्माजी अनुरोध कर गये है कि उनके लिए कहीं कोई हड़ताल, किसी तरहकी प्रतिवाद-सभा, किसी प्रकारकी चंचलता या लेशमात्र क्षोभ न किया जाय। आज्ञा अत्यन्त कठिन है। किन्तु तो भी, सारे देशने उनके इस आदेशको शिरोधार्य कर लिया है। यह कण्ठ-रोध, यह निःशब्द संयम, अपनेको दबाकर रखनेकी यह कठिन परीक्षा कितना बड़ा दुस्साध्य काम है, इस बातको वह अच्छी तरहसे ही जानते थे, तो भी इस आज्ञाका प्रचार कर जानेमें उन्हे तनिक भी अटक नहीं हुई। और एक दिन—जिस दिन उन्होंने विपद्ग्रस्त, दरिद्र, सताये गये और वंचित प्रजावर्गका परम दुःख राजाकी आँखोंके आगे उपस्थित करनेके लिए युवराजकी अभ्यर्थना और स्वागतका निषेध कर दिया था—उस अर्थहीन निरानन्द उत्सवके अभि-नयसे सब तरह अलग रहनेके लिए प्रत्येक भारतवासीको उपदेश दिया था, उस दिन भी उन्हे कोई अटक नहीं हुई। यह उनसे छिपा नहीं था कि इसके परिणामस्वरूप राज-रोपकी आग कहाँ और कितनी दूरतक फैलेगी; किन्तु कोई आशका, कोई प्रलोभन उनके इरादेको बदल नहीं सका। इसको उपलक्ष्य करके देशके ऊपरसे कितने आँधी-तूफान, कितने वज्रपात, कितना ही दुःख गुजर गया, किन्तु उन्होंने जिसे सत्य और कर्तव्य ठीक किया था, युवराजके आगमनोत्सवके सम्बन्धमे आखिरी दिनतक उन्होने अपना वह आदेश नहीं लौटाया। उसके बाद अकस्मात् एक दिन चौरीचौरामे भयानक दुर्घटना घटित हो गई। निरुपद्रव होनेके सम्बन्धमे देशवासियोंके प्रति उनका वह विश्वास हिल गया—तब यह बात सारी दुनियाके आगे निष्कपट भावसे मुक्तकंठ होकर प्रकट करनेमें उन्हें लेशमात्र दुविधा नहीं हुई। अपनी भूल

और त्रुटि वारम्वार स्वीकार करके, विरुद्ध राजशक्तिके साथ शीघ्र होनेवाले सुतीव्र संघर्षकी सब प्रकारकी सम्भावनाको उन्होंने अपने हाथसे रोक दिया। रत्तीभर भी वह नहीं हिचके। सिन्धसे आसाम और हिमालयसे दक्षिणके शेष प्रान्ततक सभी असहयोगवादियोंका मुख हताशा और निष्फल क्रोधसे स्याह हो उठा, और फौरन ही दिल्लीकी अखिल भारतीय कांग्रेसकी कार्यकारिणी समितिकी बैठकमें उनके सिरपरसे गुप्त और प्रकट लाछनाकी जैसे एक आँधी निकल गई। किन्तु वह उन्हें विचलित नही कर सकी। एक दिन जो उन्होंने विनयके साथ अत्यन्त संक्षेपमें कहा था कि I have lost all fear of man अर्थात् जगदीश्वरके सिवा मनुष्यको मैं नहीं डरता, इस सत्यको केवल प्रतिकूल राजशक्ति के आगे ही नहीं, एकान्त अनुकूल सहयोगियों और भक्त अनुचरोंके आगे भी प्रमाणित कर दिया। राजपुरुषों और राजशक्तिके अनाचार और अत्याचारकी तीव्र आलोचना इस देशमें निडर होकर और भी अनेक लोग कर गये हैं और उसके दण्डका भोग भी उन लोगोंके भाग्यमें कुछ हलका नहीं हुआ है, तथापि उन लोगोंको निर्भयताकी परीक्षा केवल इसी तरफसे देनी पड़ी थी। किन्तु इससे भी बड़ी और कठिन जो एक परीक्षा थी—अनुरक्त भक्तजनोकी अश्रद्धा, अभक्ति और व्यंग्य-विद्रूपका दण्ड—इस बातको लोग एक प्रकारसे भूल गये थे—जानेके पहले देशके आगे इस परीक्षाको ही पास होकर उन्हें जाना पड़ा, अत्यन्त स्पष्ट करके दिखा जाना पड़ा कि मान-सम्भ्रम, मर्यादा, यश, यहाँतक कि जन्मभूमिके ऊपर भी सत्यको स्थापित कर पाये विना ऐसा कर पाना असम्भव है।

किन्तु इतनी बड़ी शान्त शक्ति और शुद्ध सत्यनिष्ठाकी मर्यादाको धर्महीन उद्दण्ड राजशक्ति नहीं समझ सकी; उसने उन्हे लाछन लगाया, लाछित किया। महात्माजीको उस दिन रातमें गिरफ्तार किया गया। कुछ दिनोंसे यह सम्भावना अफवाहोंमें तैर रही थी, अतएव यह गिरफ्तारी आकस्मिक भी नहीं है, आश्चर्यकी वात भी नहीं है। जेलकी सजा होना अनिवार्य है। इसमे भी विस्मयकी वात कुछ नहीं है। लेकिन सोचनेकी वात अवश्य है। चिन्ता व्यक्तिगत भावसे उनके अपने लिए नहीं है। यह चिन्ता समष्टिगत भावसे सारे देशके लिए है। जो अनन्य भावसे सत्यनिष्ठ है, जो मन-वाणी-कायासे हिंसाको छोड़े हुए हैं, स्वार्थके नामसे जिनका कहीं भी कुछ भी नहीं है,

आर्त्तोंके लिए—पीड़ितोंके लिए जो संन्यासी हैं,—इस अभागे देशमें ऐसा कानून भी है, जिसके अपराधसे इस आदमीको भी आज जेल जाना पड़ा। देशके कल्याणमे ही राजलक्ष्मीका कल्याण है, प्रजाकी भलाईमें ही राजाकी भलाई है—शासनतन्त्रका यह मूल तत्त्व आज इस देशमे सत्य है कि नहीं, यहाँ देशके हितके लिए ही राज्यकी परिचालना होती है कि नहीं, प्रजाका भला होनेसे ही राजाका भला होता है या नहीं, यह ऑखे खोलकर आज देखना होगा। अपनेको धोखा देकर नहीं, पराये ऊपर मोहका विस्तार करके नहीं, हिंसा और चिढ़का निष्फल अग्निकाण्ड करके नहीं; जेलमें वन्द महात्माजीके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करके, उन्हींकी तरह शुद्ध और एकाग्र होकर और उन्हींकी तरह लोभ, मोह और भयको सब ओरसे जीतकर। निरर्थक जेल जाकर नहीं—जेलमें वन्द होनेका अधिकार प्राप्त करके।

शायद यह अच्छा ही हुआ है। शासन-यंत्रके नागपाशमें आज वह वॅधे हुए हैं। वह जिसे वहुत चाह रहे थे, उस विश्रामकी वातको न हो मैंने छोड़ ही दिया; किन्तु जव आज देशका भार देशके माथे आ पड़ा है, तव एक वात, जिसे वह वार-वार कह गये है कि 'कभी किसीके भी हाथसे दानकी तरह स्वाधीनता नहीं ली जाती: लेनेपर भी वह नहीं टिकती; उसे हृदयके रक्तसे प्राप्त करना होता है,' उसे पूरा करनेका, उनकी अनुपस्थितिमें अपनेको सार्थक करनेका यह परम सुयोग शायद आज सव प्रकारसे हमे नसीव हुआ है। जो लोग वाहर रह गये है, वे विलकुल ही साधारण मनुष्य हैं। किन्तु जान पड़ता है, असाधारणताका परम गौरव आज उन्हींकी प्रतीक्षा कर रहा है।

और भी एक परम सत्य वह स्पष्ट कर गये है। कोई देश जव स्वाधीन, सुस्थ और स्वाभाविक अवस्थामे रहता है, तव देशात्मवोधकी समस्या भी खूब जटिल नहीं होती और स्वदेश-प्रेमकी परीक्षा भी एकदम अत्यन्त कड़े रूपमें नहीं देनी होती। तव उस देशके नेतृत्वके योग्य लोगोंको वड़े यत्नसे छॉटे विना भी शायद काम चल जाता है। किन्तु वह देश यदि कभी पीड़ित, रोगी, और मरणासन्न हो उठे, तव इस ढीले-ढाले कर्तव्यका फिर अवकाश नहीं रहता। तव जो लोग इस दुर्दिनको पार कर ले जानेका भार ग्रहण करते हैं, उनको सव देशोंकी सारी ऑखोंके सामने परार्थपरताकी अग्निपरीक्षा देनी

होती है। बातोंसे नहीं—कामोंसे, चालाकीके मार-पेचसे नहीं—सरल सीधे रास्तेसे, स्वार्थका बोझा लादकर नहीं—सब चिन्ता, सारा उद्वेग, सम्पूर्ण स्वार्थ जन्मभूमिके चरणोंमें पूर्णरूपसे बलि देकर। इससे अन्यथा विश्वास नहीं किया जा सकता। हमारे इस परम सत्यको भूलनेसे अब किसी तरह काम न चलेगा। इसी परीक्षाको देने जाकर आज सैकड़ों-हजारों भारतवासी राजाके जेलखानेमें बन्द हैं और इसीलिए कारागारको 'स्वराज-आश्रम' नाम देकर उन्होंने आनन्दसे राजदण्डको शिरोधार्य कर लिया है।

आज प्रजाके कल्याणके साथ राजशक्तिका कठिन विरोध ठन गया है। यह संघर्ष कब समाप्त होगा, यह केवल जगदीश्वर ही जानते हैं; किन्तु राजा और प्रजामें यह संघर्षकी आग प्रज्वलित करनेके जो सर्वप्रधान पुरोहित हैं, वह यद्यपि आज कारागारमें बद हैं, तथापि इस विरोधका मूल तथ्य फिर एक बार नये सिरेसे देखनेका समय आ गया है। संशय और अविश्वास ही सारे सद्भाव, सकल बन्धन, सारे कल्याणको पल-पलमें क्षय करता रहा है। शासनतन्त्रने यह कहा। प्रजावर्ग इसका जवाब देता है—ना, यह बात नहीं है, तुम मिथ्या कहते हो। राजशक्ति कहती है—तुमको यह देंगे, इतने दिनमें देंगे। प्रजाशक्ति आँख उठाकर सिर हिलाकर कहती है—तुम हमको किसी दिन कुछ न दोगे—कोरी वञ्चना करते हो!

"यह तुमसे किसने कहा?"

"किसने कहा! हमारी सब अस्थिमज्जा, हमारी सारी प्राणशक्ति, हमारा धर्म, हमारा मनुष्यत्व, हमारे पेटकी सब नाड़ी-नसेंतक ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर केवल यही बात बराबर लगातार कहनेकी चेष्टा कर रही हैं। किन्तु सुनता कौन है? चिरकालसे तुम सुननेका ढोंग करते रहे हो, किन्तु सुना नहीं। आज भी केवल वही पुराना अभिनय फिर एक बार नये सिरेसे कर रहे हो। तुमको सुनानेकी व्यर्थ चेष्टामें दुनियाके सामने हम बेहद लज्जित और हीन बने हैं। अब हममें उसकी प्रवृत्ति नहीं है। तुम्हारे आगे नालिश नहीं करेंगे। केवल और एक बार अपनी वेदनाकी कहानी देशके लोगोंके आगे एक-एक करके व्यक्त करेंगे।"

भूतपूर्व भारतसचिव माटेगू साहब जब उस दफा भारतवर्षमें आये थे, तब

इस बंगालके ही एक विश्वविख्यात बंगालीने उनको एक बड़ी-सी चिट्ठी लिखी थी और उसका एक लंबा-चौड़ा उत्तर भी पाया था। किन्तु आदिसे अन्ततक अच्छी-अच्छी निस्सार बातोंके बोझसे भरी उस भारी चिट्ठीकी चालबाजीके सिवा और कुछ भी मुझे याद नहीं है, और जान पड़ता है, ऐसी बातें याद भी नहीं रहती। किन्तु इस पक्षका स्थूल वक्तव्य मुझे खूब याद है। इन्होंने बार-बार करके और विशद करके यह विश्वास-अविश्वासकी बहस ही चार सफेकी चिट्ठीमें भरकर साहबको समझाना चाहा था कि विश्वास किये बिना विश्वास नहीं प्राप्त होता। जैसे इतनी बड़ी नूतन तत्त्वकी बात इस भारतभूमिको छोड़कर विदेशी साहबके लिए और कहीं सुननेकी सम्भावना ही न थी। अथ च, मुझे विश्वास है कि साहबकी अवस्था कम होनेपर भी यह तत्त्व उन्होंने पहले पहल नहीं सुना और पहली जानकारी भी लेकर वे नहीं गये। इसीसे साहबको केवल ऐसी सब बातें और भाषा लिखनी पड़ी थी जो कि चिट्ठीके सफे भर देती हैं, किन्तु अर्थ कुछ नहीं रखती!

किन्तु यह बात क्या वास्तवमें सत्य है? जगत्में क्या कहीं इसका व्यतिक्रम नहीं देख पड़ता? गवर्नमेंट हमको धन देकर विश्वास नहीं करती, पल्टन देकर विश्वास नहीं करती, पुलिस देकर विश्वास नहीं करती, यह ऐसा सत्य है जिसके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु केवल इसीलिए क्या हम विश्वास नहीं करेंगे और इसी युक्तिके जोरसे देशके सब प्रकारके राजकाजके साथ असहयोग किये बैठे रहेंगे? मालूम नहीं, गवर्नमेंट इसकी क्या-क्या कैफियत देती रहती है। बहुत सम्भव है, कुछ भी नहीं देती। और अगर देती भी है तो शायद वही मांटेगू साहबकी तरह ही देती है—जिसमें बहुत-से अच्छे शब्द रहते हैं, किन्तु अर्थ नहीं रहता। किन्तु अगर वे अपनी आफिशियल (सरकारी या आफिसकी) बोली छोड़कर स्पष्ट करके कहते हैं कि तुमको ये सब चीजें देकर हम विश्वास नहीं करते, यह बिलकुल सच है; लेकिन यह केवल तुम्हारी ही भलाईके लिए। तो हम रुष्ट होकर जवाब देते हैं कि यह कैसी बात है? विश्वास क्या कभी एकतरफा होता है? तुम न विश्वास करोगे तो हम ही कैसे विश्वास करेंगे?

दूसरी ओरसे यदि प्रत्युत्तर आता कि वह वस्तु देश, काल और पात्रके

भेदसे एकतरफा होना असम्भव भी नहीं है, अस्वाभाविक भी नहीं है, तो सिर्फ गलेके जोरसे विजयी नहीं हुआ जा सकता। और प्रतिप्रपक्ष यदि एक साधारण उदाहरणकी तरह कहता कि पीड़ित-रुग्ण व्यक्ति जब आपरेशनके समय ऑखे मूँदकर डाक्टरके हाथमें आत्मसमर्पण करता है, तब विश्वास एकतरफा ही होता है। पीड़ितके विश्वासके अनुरूप जमानत डाक्टरसे कोई नहीं तलब करता और तलब करनेपर भी वह नहीं मिलती। चिकित्सककी अभिज्ञता, पारदर्शिता, उसकी साधु सत् इच्छा ही एकमात्र जमानत है, और वह सम्पूर्ण रूपसे उसके अपने हाथमें है। वह दूसरेको दी नहीं जा सकती। रोगीको अपने ही कल्याणके लिए, अपने ही प्राण बचानेके लिए डाक्टरका विश्वास करना होता है।

इस पक्षसे भी इसका प्रत्युत्तर हो सकता है कि यह उदाहरणमे ही चलता है, वास्तवमें नहीं चलता। कारण विना सकोचके आत्मसमर्पण करनेकी भी जमानत है; किन्तु वह कहीं बड़ी है और उसे चिकित्सकके हृदयमें बैठकर स्वयं भगवान् लेते हैं। उनके लेनेका दिन जब आता है, तब न चकमा चलता है, न बहस चलती है। इसीसे जान पड़ता है, सब छोड़कर महात्माजीने राजशक्तिके हृदयपर ही जोर दिया था। मार-काट, खून-खराबी, अस्त्र-शस्त्र अथवा बाहु-बलकी ओर ही वह नहीं गये—उनका सारा आवेदन-निवेदन, अभियोग-अनुयोग इसी आत्माके निकट है। राजशक्तिमे हृदय या आत्माका कोई झझट नहीं भी रह सकता है; किन्तु इस शक्तिका सचालन जो करते हैं, उन लोगोंने भी छुटकारा नहीं पाया। और सहानुभूति ही जब जीवके सब सुख-दुःख, सब ज्ञान, सब कर्मोंका आधार है, तब इसीको जगानेके लिए महात्माजीने प्राणपण किया था। आज स्वार्थ और अनाचारसे यह सहानुभूति चाहे जितनी मलिन, चाहे जितनी ढकी हुई क्यों न हो, एक दिन इसे वह निर्मल और मुक्त कर सकेंगे—यह उनका अटल विश्वास क्षणभरके लिए भी ढीला नहीं हुआ। लोभ और मोहसे स्वार्थको, क्रोध और विद्वेषसे हिंसाको निवृत्त या बंद नहीं किया जा सकता—इस बातको महात्माजी जानते थे। इसीसे दुःख देकर नहीं—दुःख सहकर, वध करके नहीं—अकुठित चित्तसे अपनी बलि देनेके लिए ही वह इस धर्मयुद्धमें उतरे थे। यही थी उनकी तपस्या, इसीको उन्होंने वीरका धर्म कहकर

निष्कपट भावसे इसका प्रचार किया था। सारे पृथ्वीमण्डलमे यह जो उद्धत अविचारकी चक्कीमे मनुष्य दिन-रात पिसकर मर रहा है, इसका एकमात्र हल गोली-गोले, बंदूक-बारूद और तोपमें नहीं है; है केवल मनुष्यकी प्रीतिमें, इसकी आत्माकी उपलब्धिमें—इस परम सत्यपर वह सम्पूर्ण हृदयसे विश्वास रखते थे, इसीसे अहिंसा-व्रतको केवल क्षणभरका उपाय मानकर नहीं, चिरजीवनका एकमात्र धर्म समझकर उन्होंने ग्रहण किया था। और इसीलिए उन्होने इस भारतीय आन्दोलनको राजनीतिक न कहकर आध्यात्मिक कहकर समझानेकी चेष्टामे दिनपर दिन प्राणान्त परिश्रम किया था। विपक्षने हँसी उड़ाई, अपने पक्षने अविश्वास किया; पर दोनोंमेंसे कोई उन्हें विभ्रान्त नहीं कर सका। अँगरेजोंकी राजशक्तिके प्रति महात्माजीका विश्वास जाता रहा है, किन्तु मनुष्य अँगरेजोंकी आत्मोलब्धिके प्रति आज भी उनका विश्वास वैसे ही स्थिर और अटल बना हुआ है।

किन्तु इस अचंचल निष्कम्प दीपशिखाकी महिमा समझ पाना बहुतोंके लिए दुःसाध्य है। इसीसे उस दिन श्रीयुत विपिनबाबू (सुप्रसिद्ध विपिनचन्द्र पाल) ने जब महात्माजीका यह कथन "I would decline to gain India's freedom at the cost of non-violence, meaning that India will never gain her freedom without non-violence." (अर्थात् अहिंसाकी कीमतपर मैं भारतकी स्वाधीनता लेना स्वीकार न करूँगा, मतलब यह कि भारत बिना अहिंसाके अपनी स्वाधीनता नहीं ग्रहण करेगा) उद्धृत करके यह समझाना चाहा था कि 'महात्माजीका लक्ष्य सत्याग्रह है; भारतकी स्वाधीनता या स्वराजका लाभ इस लक्ष्यका एक अंग हो सकता है, किन्तु मूल लक्ष्य नहीं है', तब वह भी इस दीपशिखाके रूपको हृदयंगम नहीं कर सके थे। दूसरेकी सम्पूर्ण स्वाधीनताके ऊपर हस्तक्षेप न करके मनुष्यकी पूर्ण स्वाधीनता कितनी बड़ी सत्य वस्तु है और इसके प्रति द्विधाहीन आग्रह भी कितनी बड़ी स्वराजकी साधना है, इसकी उपलब्धि वह भी नहीं कर सके। 'सत्यके अंग-प्रत्यंग, जड़ और शाखा आदि नहीं हैं। सत्य सम्पूर्ण वस्तु है और सत्य ही सत्यका शेष है।' और इस चाहनेके भीतर ही मानव-जातिके सब प्रकारके और सर्वोत्तम लक्ष्यकी परिणति विद्यमान है। देशकी

स्वाधीनता या स्वराज उन्होंने सत्यके भीतरसे ही चाहा है; मारकाट करके लेना नहीं चाहा। इस तरह चाहा है, जिससे वह आप भी धन्य हो जाय। उसके क्षुब्ध चित्तका कृपणका दिया धन नहीं, उसके दाताके प्रसन्न हृदयका सार्थकताका दान चाहा है। ऐसा छीना-झपटीका देना-लेना तो संसारमें बहुत हो गया है; किन्तु वह स्थायी नहीं हो सका—दुःख, कष्ट, वेदनाका भार केवल बढ़ता ही चला जा रहा है, कहीं भी तो एक तिलभर भी कम नहीं हुआ। इसीसे वह आज उन सब पुराने परिचित और क्षणस्थायी असत्यके मार्गोंसे विमुख होकर सत्याग्रही हुए थे, प्रण किया था कि मानवात्माके सर्व-श्रेष्ठ दानके सिवा और कुछ भी वह हाथ फैलाकर नहीं ग्रहण करेंगे।

सम्पूर्ण अन्तःकरणसे स्वाधीनता और स्वराज्यकी कामना करके वह जब ॲंगरेजी राज्यके सब प्रकारके संसर्गको त्याग करनेके लिए राजी नहीं हुए थे, तब उन्हें बहुत-सी कड़वी बातें और गालियाँ सुननी पड़ी थीं। बहुत-सी कटूक्तियोंके बीच एक तर्क यह था कि "ॲंगरेजी राज्यके साथ हम लोगोंका चिरदिनके लिए अविच्छिन्न बन्धन किसी तरह सत्य नहीं हो सकता और निरुपद्रव शान्तिके लिए ही इतना व्याकुल होनेकी क्या जरूरत है ? जब पराधीनता पाप है और पराई स्वाधीनताको छीननेवाला भी जब इतना बडा पापी है, तब चाहे जिस तरह हो, इससे मुक्त होना ही धर्म है। ॲंगरेजोंने यहाँ निरुपद्रव मार्गसे राज्य नहीं स्थापित किया और उसके लिए रक्तपात करनेमें भी संकोच नहीं किया; तब केवल हम लोगोंको ही निरुपद्रवपन्थी रहना होगा, इतनी बड़ी जिम्मेदारी हम काहेके लिए ग्रहण करें ?"

किन्तु महात्माजीने इधर कान नहीं दिया। वह जानते थे कि यह युक्ति सत्य नहीं है, इसके भीतर एक भारी भूल छिपी हुई है। वास्तवमें यह बात किसी तरह सत्य नहीं है कि जगत्में जो कुछ एक दिन अन्यायकी राहसे, अधर्मके मार्गसे स्थापित हो गया है, उसे आज मिटाना या ध्वस करना ही न्याय है—चाहे जिस तरहसे हो, उसे दूर करना ही, आज धर्म है। एक दिन जिस ॲंगरेजी राज्यको प्रतिहत करना ही देशका सर्वश्रेष्ठ धर्म था, उसे उस दिन हम रोक नहीं सके—इसलिए आज चाहे जिस उपाय या मार्ग से उसे नष्ट करना ही देशका एकमात्र धर्म है—यह बात किसी तरह जोर करके

नही कही जा सकती। अवाछित जारज सन्तान अधर्मकी राहसे ही जन्म लेती है, अतएव उसकी हत्या करके ही धर्महीनताका प्रायश्चित्त हो सकता है, ऐसा कहना सत्य नहीं है।'

सत्याश्रयी

छात्र, युवक और एकत्र हुए बन्धुओ,

बँगला भाषामें शब्दोंका अभाव नही था, अथ च इस आश्रमकी स्थापना करनेवालोंने छाँटकर इसका नाम रक्खा 'अभय आश्रम'। बाहरके लोक-समाजमें इस प्रतिष्ठानको अभिहित करनेके अनेक नाम थे, तो भी उन्होंने इसे कहा—अभय आश्रम। बाहरका परिचय तो गौण है; जान पड़ता है जैसे सङ्घकी स्थापना करके उन्होने विशेष भावसे अपने ही लोगों (सदस्यों) से कहना चाहा था कि स्वदेशके काममें हम निर्भय हो सकें, इस जीवनके यात्रा-पथमे हमे भय न रहे। सब प्रकारके दुःख, दैन्य, और हीनताकी जड़में मनुष्यत्वके सबसे बड़े शत्रु भयकी उपलब्धि करके उन्होने विधातासे अभयके वरदानकी प्रार्थना कर ली थी। नामकरणके इतिहाससे इस तथ्यका मूल्य है और आज मेरे मनमें कोई संशय नही है कि उनका वह आवेदन विधाताके दरबारमें मंजूर हो गया है। कामोंके जरिए इन लोगोके साथ मेरा अनेक दिनोंका परिचय है। दूरसे सामान्य-सा जो कुछ इनके कामोंका विवरण मैं सुन पाता था, उससे मेरे मनमें यह आकाक्षा प्रबल हो उठी थी कि एक बार जाकर अपनी आँखोंसे सब देख आऊँगा। उसीसे, मेरे परम प्रीतिपात्र प्रफुल्लचन्द्रने जब मुझे सरस्वती-पूजाके उपलक्ष्यमे यहाँ आनेका निमंत्रण दिया, तब उनके उस निमंत्रणको मैंने अत्यन्त आनन्दके साथ ही ग्रहण किया। केवल एक शर्त करा ली कि अभय आश्रमकी ओरसे मुझे यह अभय दिया जाय कि मंचपर चढ़ाकर

---

१. बंगलाके मासिकपत्र 'नारायण' की बंगला सन् १३२९ की वैशाख सख्यामें प्रकाशित लेख।

मुझे असाध्य-साधनके लिए नियुक्त न किया जायगा और वक्तृता देनेकी विभीषिकासे मुझे छुटकारा दिया जायगा। जीवनमें मैं अगर किसी चीजसे डरता हूँ तो इसीसे। लेकिन यह भी कह दिया था कि अगर समय मिलेगा तो दो-चार सतरें लिखकर ले आऊँगा। वह लिखना प्रयोजनकी दृष्टिसे भी मामूली होगा और उपदेशकी दृष्टिसे भी कुछ विशेष कामका न होगा। इच्छा थी कि बातोंका बोझा अधिक न बढ़ाकर उत्सवके मिलने-जुलनेमें आप लोगोंके पाससे आनन्दका संचय लेकर घर लौटूँगा। मैं अपने उस संकल्पको नहीं भूला और इन दो दिनोंमें सचयके बारेमें ठगा भी नहीं गया। किन्तु यह मेरे अपने पक्षकी बात है। बाहर भी एक पहलू है। वह जब सामने आ पड़ता है, तब उसकी जिम्मेदारीसे भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। तभी आ गया प्रफुल्लचन्द्रका छपा हुआ कार्यक्रम। रवाना होना होगा, समय नहीं है। किन्तु पढ़कर देखा, अभय आश्रमने पश्चिम-विक्रमपुर निवासी छात्र युवकोंके मिलन-क्षेत्रका आयोजन किया है। लड़के वहाँ इकट्ठे होंगे। वे मुझे न छोड़ेंगे; कहेंगे—हमने किशोर-अवस्थासे आपकी छपी हुई पुस्तकोंमें आपकी अनेक बातें पढ़ी-सुनी हैं। आज भी जब हमने आपको अपने पास पाया है तब कुछ-न-कुछ सुने बिना नहीं छोड़ेंगे। उसीके फलस्वरूप ये कुछ पंक्तियाँ मैंने लिखी हैं। आप सोचेंगे,—सो अच्छा तो है,—लेकिन इतनी बड़ी भूमिकाकी क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तरमें मैं एक बात स्मरण करा देना चाहता हूँ और वह यह कि भीतर जब तत्त्व कम रहता है, तब मुखबन्धके आडम्बरसे ही श्रोताओंका मुँह बन्द करनेका प्रयोजन होता है।

अपनी चिन्तनशीलता द्वारा कोई नई बात कहनेकी शक्ति या सामर्थ्य मुझमें कुछ भी नहीं है। आप लोग स्वदेशवत्सल नेताजनोंके मुँहसे बहुत-सी सभा-समितियोंमें जो सब बातें बहुत बार सुन चुके हैं, केवल वही सब बातें मैं लिखकर ले आया हूँ। सोचा है, नयापन न सही, मौलिकत्व चाहे जितना बड़ा हो, उससे भी बड़ी बात सत्य है। पुरानी होनेके कारण वह तुच्छ नहीं है। उसे और एक बार स्मरण करा देना भी बड़ा काम है। इसलिए आज केवल दो-तीन बातोंका ही आप लोगोंके आगे उल्लेख करूँगा।

कुछ दिनोंसे एक बातको मैं लक्ष्य करता आ रहा हूँ। सोचता हूँ, इतना

वड़ा सत्य इतने दिनोंतक छिपा कैसे रहा ? उस दिनतक सभी जानते, सभी मानते थे कि पालिटिक्स (राजनीति) केवल वृद्धोंके ही इजारेकी चीज है। आवेदन-निवेदन और मान-अभिमानसे लेकर आँखें दिखानेतक विदेशी राजशक्तिके साथ जो कुछ मुकावलेकी जिम्मेदारी है, सब उन्हींकी है। इसमें लड़कोंका प्रवेश एकदम मना है। वह उनके लिए केवल अनधिकार-चर्चा ही नहीं, निन्दनीय अपराध है। वे स्कूल-कालिजमें जायें, शान्त शिष्ट अच्छे लड़के बनकर परीक्षाएँ पास करके मा-बापका मुख उज्ज्वल करे—यही छात्र-जीवनकी सर्वसम्मत नीति थी। यह कोई सपनेमें भी नहीं सोच पाता था कि इसमें कोई व्यतिक्रम हो सकता है—इसके विरुद्ध कोई प्रश्नतक उठ सकता है। एकाएक कहींकी किसी उल्टी तेज हवाने इसके केन्द्रको ठेलकर एकदम जैसे परिधि (घेरे) के बाहर फेक दिया। बिजलीकी शिखा जैसे अकस्मात् घने गहरे अन्धकारकी छातीको चीरकर वस्तुको प्रकाशमे लाती है, ठीक वैसे ही आज निराशा और वेदनाकी अग्निशिखाने सत्यको उद्घाटित कर दिया है। जो आँखोकी ओट था, वह नजरके सामने आ पड़ा है। सारे भारतवर्षमे कहीं भी आज सन्देहका लेश भी नहीं रहा कि इतने दिन लोग जो सोचते आये है, वह भूल है। उसमें सत्य न होनेसे ही विधाताने बार-बार व्यर्थताकी कालिमा देशके सारे अंगमे पोत दी है। यह भारी भार वृद्धोंके लिए नहीं है, यह भार जवानीके लिए है। इसीसे तो आज स्कूल-कालेजोंमे, शहरो और गाँवोंमे, भारतके घर-घरमे यौवनकी पुकार हो रही है। वृद्धोंने नहीं पुकारा, पुकारा है स्वय विधाता पुरुषने। उनकी यह पुकार कानोंके भीतर जाकर इन युवकोंके हृदयमे पहुँच गई है कि जननीके हाथ-पैरोंमे बँधी हुई यह कठिन शृंखला तोड़नेकी शक्ति अति प्राज्ञ वृद्धोंकी हिसाबी बुद्धिमे नहीं है; यह शक्ति केवल तरुणोंके प्राण-चंचल (जोशसे भरे) हृदयके भीतर है। इस निःसशय आत्म-विश्वासमे आज उन्हे प्रतिष्ठित होना ही होगा। इतने दिनतक विदेशी बनिया-राजशक्तिको कोई चिन्ता ही न थी। वृद्धोकी राजनीति-चर्चाको वह एक खेल ही समझती आ रही थी; किन्तु अब उसे खेलनेका अवकाश नहीं, हर तरफ क्या इसके चिह्न आपको दिखाई नहीं पड़ते ? अगर नहीं देख पड़ते तो मै आपसे आँखें खोलकर देखनेको कहता हूँ। आज राजशक्ति व्याकुल हो उठी

है, और भविष्यमें इस अन्ध-व्याकुलतासे देश छा जायगा—यह सत्य भी आज समस्त हृदयसे उपलब्ध करनेके लिए मैं आपसे कहता हूँ। और यह भी कहता हूँ कि उस दिन इस सत्योपलब्धिका अपमान या अनादर न हो।

यहाँ एक बात कहे रखता हूँ। कारण, सन्देह हो सकता है कि सभी देशोंमें तो राजनीतिके संचालनका भार बूढ़ोंके कंधोंपर रक्खा रहता है, फिर यहाँ उसका अन्यथा क्यों होगा? अन्यथा यहाँ भी न होगा, एक दिन उन्हींके ऊपर राज्यशासनका भार पड़ेगा। किन्तु वह दिन आज नहीं है। अभी वह नहीं आया। कारण, देशका शासन करना और उसे स्वाधीन करना एक ही बात नहीं है। यह बात याद रखनेकी बड़ी जरूरत है कि राजनीतिका परिचालन एक पेशा है। जैसे डाक्टरी, वकालत, प्रोफेसरी आदि। अन्यान्य सब विद्याओंकी तरह इसकी भी शिक्षा प्राप्त करनी होती है। इसे भलीभाँति सीखने समझनेमें समय लगता है। तर्कके दाव-पेंच, बातोंके खडन-मडनकी लड़ाई, आईनके छिद्र खोजकर दो-एक कड़ी बातें सुना देना और यथासमय आत्मसंवरण तथा विनम्र भाषण देना—ये सब कठिन कसरतें हैं और अवस्था बढ़े बिना इनमें पारदर्शिता नहीं उत्पन्न होती। इसीका नाम पालिटिक्स है। स्वाधीन देशमें इससे जीविका चलती है। किन्तु पराधीन देशकी यह व्यवस्था नहीं है। वहाँ देशकी मुक्ति प्राप्त करनेकी राहमें पग-पगपर अपनेको सब सुखोंसे वञ्चित करके चलना होता है। यह तो उसका पेशा नहीं है, यह उसका धर्म है। इसीलिए इस परम त्यागका व्रत केवल जवानी ही ले सकती है। यह उसकी स्वाधिकार-चर्चा है, अनधिकार-चर्चा नहीं है और इसीसे राजशक्तिने इसे भयकी दृष्टिसे देखना शुरू कर दिया है। यही स्वाभाविक है और इसकी गतिके मार्गमें बेशुमार बाधाएँ आवेंगी—यह भी वैसा ही स्वाभाविक है। किन्तु इस सत्यको क्षोभके साथ नहीं, आनन्दहीके साथ मान लेकर आगे बढ़नेके लिए आज मैं आप लोगोंको बुलाता हूँ—आह्वान करता हूँ।

शब्दोंकी घटा और वाक्यकी छटासे उत्तेजनाकी सृष्टि करना मुझे नहीं आता—उसमें मैं असमर्थ हूँ। शान्त एकाग्र चित्तसे सत्यकी उपलब्धि करनेका ही मैं अनुरोध करता हूँ। हम अपनेको भूली हुई जातिके हैं, हमारे

यह था, वह था, यह था और यह है, यह है, यह है,—अतएव नींद तोड़कर आँखे मलकर उठ बैठते ही सब पा जावेगे, यह जादूके चमत्कारका आश्वासन देनेकी प्रवृत्ति मुझमे कभी किसी समय नहीं होती। दुनिया माने या न माने, हम बहुत बड़ी जातिके है—यह बात घमडके साथ चारो ओर घोषणा करते घूमनेमे भी जैसे मै गौरव नही मानता, वैसे ही विदेशी राजशक्तिको भी धिक्कार देते हुए उन्हे सम्बोधन करके यह कहनेमे मुझे लज्जा आती है कि हे अँगरेज, तुम कुछ नही हो; क्योकि अतीत कालमे हमने जब ये-ये बहुत बडे-बड़े काम किये है, उस समय तुम पेड़ोंकी डालोपर रहते और घूमते थे। और अगर व्यंग्य करके कोई मुझसे कहे कि तुम लोग अगर सचमुच ही इतने बड़े हो तो हजार वर्षोंसे कभी पठानोके, कभी मुगलोके, कभी अँगरेजोके तलवे क्यों चाटते रहे, उनके पैरोंके तले अपना सिर क्यों मुड़ाते रहे, तो इस उपहासके प्रत्युत्तरमे मुझे इतिहासकी पोथी खोजकर अन्यान्य जातियोंकी दुर्दशाकी नजीरे दिखानेमे भी घृणा मालूम होती है। वास्तवमें इस बहससे कोई लाभ नही है। विगत दिनोमे तुम्हारे या मेरे क्या था, इसके ऊहापोहसे ग्लानि बढ़ाकर क्या होगा? मै कहता हूँ कि अँगरेज, आज तुम बड़े हो; शूरता, वीरता और स्वदेशप्रेममे तुम्हारी जोड़ नही है; किन्तु हमारे भी वड़े होनेका सब माल-मसाला मौजूद है। आज देशका जवान मन रास्तेकी खोजमें चंचल हो उठा है; उसे रोकनेकी शक्ति किसीमे नहीं है, तुममे भी नहीं। तुम चाहे जितने वड़े होओ, वह तुम्हारी ही तरह बड़ा होकर अपना जन्मसिद्ध अधिकार लेगा ही।

किन्तु किस सज्ञासे यौवनका निर्देश किया जाय? उसकी क्या परिभाषा की जाय? अतीत जिसके निकट अतीतसे अधिक नहीं है—वह चाहे जितना बड़ा हो—मुग्ध चित्तसे उसीका लालन करके समय वितानेकी फ़ुरसत जिसे नहीं है, जिसकी बहुत बडी आशा और विश्वास अनागतकी आड़मे कल्पनासे जगमगा रहा है, वही तो यौवन है और यहींपर वृद्धकी हार है। उसकी शक्ति लगभग समाप्त हो चुकी है, उसका भविष्य आशाहीन शुष्क है, सामनेसे अवरुद्ध है, इसीसे बाकी जीवनके थोड़ेसे दिन प्राणपणसे अतीतको पकड़ रहना ही उसकी सान्त्वना है। इस अवलम्बनको वह किसी तरह छोड़ नहीं सकता। उसे

केवल यही डर लगता है कि उससे विच्युत होनेपर उसके खड़े होनेके लिए कहीं जगह नहीं रहेगी। स्थितिशील शान्ति ही उसका एकमात्र आश्रय है; बहुत दिनसे पिंजड़ेमें बंद पक्षीकी तरह मुक्ति ही उसके लिए बन्धन है; मुक्ति ही उसकी सुनियन्त्रित अभ्यास-सिद्ध जीवन-धारण-प्रणालीका यथार्थ विघ्न है। यहींपर यौवनके साथ उसका प्रचण्ड विभेद है। देशको, समाजको, जातिको मुक्त करनेकी जिम्मेदारी जबतक इन वृद्धोंके हाथमें रहेगी, तबतक बन्धनकी गाँठमें फदेपर फंदा पड़ता ही रहेगा, वह खुलेगी नहीं। किन्तु यौवनका धर्म इससे उल्टा है। इसीलिए जिस दिन मैंने यह सुन पाया कि स्कूल-कालेजोंके छात्रोंने अब राजनीतिको,—जो राजनीति कोरा पालिटिक्स नहीं है, जो राजनीति स्वदेशकी मुक्तिके यज्ञमें दीक्षा या व्रतकी तरह है—ग्रहण करनेके लिए कमर कस ली है: उन्होंने इस कुसंस्कारके हाथसे छुटकारा पा लिया है कि यह वस्तु उनके छात्रजीवनके खिलाफ है, उसी दिनसे मेरे मनमें विश्वास उत्पन्न हो गया है कि सचमुच हमें दुर्गतिसे छुटकारा मिल जायगा। छात्रों और देशके युवकोंसे मेरी यह हार्दिक प्रार्थना है कि वे किसीके भी कहनेसे, किसी भी प्रलोभनसे अपने इस संकल्पसे विचलित न हों।

इस सम्बन्धमें बहुत-से मनीषी व्यक्तियोंने बहुत-से उपदेश दिये हैं। तुम लोग यह करो, यह करो, यह करो, यह तुम्हें करना चाहिए, यही आचरण प्रशस्त है, स्वार्थत्याग चाहिए, हृदयके भीतर स्वदेश-प्रीतिकी आग सुलगा देनेकी जरूरत है, जाति-पाँतिका भेद न स्वीकार करो, छुआछूतका रास्ता छोड़ो, खद्दर पहनो—इसी तरहके अनेक मूल्यवान् आदेश और उपदेश। यह हुआ प्रोग्राम (कार्यक्रम)। इसके सिवा अन्य प्रकारके उपदेश और प्रोग्राम भी हैं। आप लोगोंकी ही तरह देशके बहुत-से छात्र और युवक मेरे पास आकर पूछते हैं कि हम क्या करें, आप बता दीजिए। उत्तरमें मैं कहता हूँ कि प्रोग्राम तो मैं दे नहीं सकता; मैं तुमसे केवल यह कह सकता हूँ कि तुम दृढ़ पणसे सत्याश्रयी बनो, सत्यका सहारा लो। वे प्रश्न करते हैं—इस मामलेमें सत्य क्या है? भिन्न-भिन्न मतामत और प्रोग्राम हमें उद्भ्रान्त कर देते हैं—चक्करमें डाल देते हैं। जवाबमें मैं कहता हूँ कि सत्यकी कोई शाश्वत सत्ता मेरी जानी हुई नहीं है। देश, काल और पात्रके सम्बन्ध या विधान

(relation) से ही सत्यकी जाँच होती है। देश, काल, पात्रके परस्परके सम्बन्धका ज्ञान ही सत्यका स्वरूप है। एकके बदलनेके साथ ही दूसरेका परिवर्तन अवश्य होगा। इस परिवर्तनको बुद्धिसे मान लेना ही सत्यको जानना है। जैसे बहुत पहलेके युगमे राजा ही भगवान्का प्रतिनिधि था। देशके लोगोंने यह बात मान ली थी। इसे मैं असत्य नहीं कहना चाहता। उस प्राचीन युगमे शायद यही सत्य था। किन्तु आज ज्ञान और पारिपार्श्विक स्थितिके बदलनेके फलस्वरूप यह बात अगर भ्रान्त धारणा ही प्रमाणित हो, तो भी किसी पुराने जमानेकी युक्ति और उक्तिको ही पकड़े रहकर, उसीको सत्य कहकर, अगर कोई बहस करे तो उसे और चाहे जो कहूँ, सत्याश्रयी नहीं कहूँगा। किन्तु केवल मानना ही सब-कुछ नहीं है; अगर चिन्तनमे, वाक्यमे, व्यवहारमे, जीवन-यात्रामे पग-पगपर यह सत्य विकसित न हो उठे, तो वास्तवमे एक और दिशासे इसकी कोई सार्थकता ही नहीं है। बल्कि गलत जानना और भ्रान्त धारणा हो, वह भी अच्छा; किन्तु भीतरके जानने और बाहरके आचरणमें अगर सामंजस्य न रहे, अर्थात् जानें कुछ, कहें कुछ और करे कुछ, तो जीवनकी इतनी बड़ी व्यर्थता, इतना बड़ा कायरपन और नहीं है। यौवन-धर्मको इतना छोटा करनेवाली और कोई दूसरी बात नहीं है। छुआछूत, जातिभेद, खद्दर पहनना, जातीय शिक्षा, देशका काम, यह सब सत्य है या असत्य, अच्छा है या बुरा, मैं यह आलोचना नहीं करूँगा, इसे समझनेके लिए मुझसे बढ़कर योग्यतर व्यक्ति आप लोगोंको बहुत मिलेंगे। किन्तु मैं केवल यही निवेदन करूँगा कि आपके समझनेके साथ आपके कार्योंका ऐक्य रहे। समझता हूँ कि छुआछूत-आचार-विचारका कोई अर्थ नहीं है, तो भी उसे मानकर चलता हूँ। समझता हूँ कि जातिभेद महा अकल्याण करनेवाला है, तो भी अपने आचरणमें यह प्रकट नहीं करता। समझता हूँ और कहता हूँ कि विधवा-विवाह उचित है, तो भी अपने जीवनमें उसे बचाता हूँ। जानता हूँ, खद्दर पहनना उचित है तो भी विलायती कपड़े पहनता हूँ। इसीको असत्य आचरण कहते हैं। देशकी दुर्दशा और दुर्गतिके मूलमे यह महापाप हम लोगोको कितना नीचे खींच लाया है, इसकी शायद हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसा ही हाल सब ओर है। उदाहरण देकर समय बितानेकी जरूरत नहीं है। मैं

प्रार्थना करता हूँ कि देशके युवक दीनता और कायरपनके इस मार्गसे देशका उद्धार कर सकें। गलत समझकर गलत काम करनेकी अज्ञतासे अपराध हो, वह कहीं अच्छा, किन्तु ठीक समझकर गलत काम करनेसे केवल सत्यसे भ्रष्ट होनेका ही नहीं, असत्य-निष्ठाका भी पाप होता है। उसके प्रायश्चित्तका दिन जब आता है, तब सारे देशकी शक्तिसे भी पूरा नहीं पड़ता। यह बात याद रखनी होगी कि सत्य-निष्ठा ही शक्ति है, सत्य-निष्ठा ही सब मंगलोंका आधार है और अँगरेजीमें जिसे tenacity of purpose (लक्ष्य या उद्देश्यकी ओर खिंचाव) कहते हैं, वह भी इस सत्यनिष्ठाका ही विकास है। इसी कारण मैं बारबार स्वदेशके जवानोंके निकट यही आवेदन करता हूँ कि सत्यनिष्ठा ही उन लोगोंका व्रत हो। क्योंकि मैं निश्चय जानता हूँ कि इस व्रतको धारण करनेसे ही उनके आगेकी सारी बाधा हट जायगी और यथार्थ कल्याणकी राह खुल जायगी। प्रोग्राम और पथ-प्रदर्शनके लिए उन्हें दुश्चिन्ता न करनी होगी।

आजकी कार्य-तालिकाका एक विषय है लाठी, तलवार और छुरीके खेल। अबतक छात्र-समाज physical culture की ओरसे बिलकुल विमुख हो पड़ा था। जान पड़ता है, अब वह धीरे-धीरे जैसे लौटा आ रहा है। इस प्रत्या-गमनका मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे अभिनन्दन करता हूँ। उन्होंने देखा है कि केवल दुर्बल शक्तिहीनकी ही तिल्ली पैरकी ठोकरसे फटती है। शक्तिमान् काबुली पठानोंकी नहीं फटती, फटती है बंगालियोंकी। जान पड़ता है, बार-बार इसी धिक्कारका धक्का खाकर ही शारीरिक शक्ति बढ़ानेकी स्पृहा लौट आई है। फिजीकल कल्चरसे शक्ति आती है, आत्मरक्षाका कौशल आता है, साहस बढ़ता है; लेकिन तो भी यह बात भूलनेसे काम न चलेगा कि ये सब देहके व्यापार हैं। अतएव यही सब कुछ नहीं है। साहसका बढ़ना और निर्भीकताका उपार्जन करना एक चीज नहीं है। एक देहकी है, दूसरी मनकी। देहकी शक्ति और कौशल बढ़नेसे अपेक्षाकृत दुर्बल और कौशल न जाननेवालेको हराया जाता है किन्तु निर्भयताकी साधनासे शक्तिमानको परास्त किया जाता है; संसारमें कोई उसे बाधा नहीं दे सकता; वह अजेय होता है। इसीसे, प्रारम्भमें जो बात मैंने एक बार कही है उसीकी पुनरुक्ति करके फिर कहता हूँ कि यह अभय-आश्रम इसी साधनामें लगा हुआ है। इन लोगोंकी यह कृच्छ्र साधना उसीकी एक

सीढ़ी, एक उपाय है। यह उनका पथ है, चरम लक्ष्य नहीं। अभाव, दुःख, क्लेश, परोसियोंकी लाछना, बन्धुजनोंका तिरस्कार, प्रबलका उत्पीड़न—कोई भी, कुछ भी इनके मुक्ति-मार्गको बाधाग्रस्त न कर सके, यही इन लोगोंका एकान्त पण है। यही निर्भयताकी साधना और यही सत्यकी निष्ठा तो इनके गन्तव्य पथको निरन्तर प्रकाशित करती जा रही है। खद्दरका प्रचार, जातीय विद्यालयकी स्थापना, अस्पताल खोलना, आर्त्तोंकी सेवा—यह सब भला है या बुरा—निर्भीकता और देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनेमें ये सब बातें कामकी हैं या नहीं, ये सब प्रश्न वृथा है। मेरा यह विश्वास है कि इनकी सत्य-निष्ठा कल अगर इनकी दृष्टिमें और दूसरा मार्ग सुझा दे, तो इस सब आयोजनको अपने ही हाथसे तोड़ फेंकनेमें अभय-आश्रमके निवासी या सदस्य घड़ी-भरकी भी देर न करेंगे। मैं कामना करता हूँ कि मेरा यह विश्वास सत्य हो।

मेरी अवस्था अधिक हुई, तो भी यहाँ आकर मैंने बहुत-कुछ सीखा। इस अभय-आश्रमका अतिथि होनेका सौभाग्य मुझे अन्तिम दिनतक याद रहेगा।

अंतमें इन छात्रों और युवसंघको आशीर्वाद करता हूँ कि इनकी ही तरह सत्य-निष्ठा उनके भी जीवनका ध्रुवतारा हो।

आप लोग मेरा सकृतज्ञ हार्दिक नमस्कार ग्रहण करें।[१]

वर्तमान हिन्दू-मुसलमान-समस्या

कोई भी बात बहुत लोगोंके बहुत जोर देकर कहते रहनेपर भी केवल कहनेके जोरसे ही सत्य नहीं हो उठती। अथ च, इस सम्मिलित प्रबल कंठस्वरकी एक शक्ति होती है और मोह भी कम नहीं होता। वह शब्द चारों ओर गूँजता रहता है और इस भापसे ढके हुए आकाशके नीचे दोनों

---

१. १५ फरवरी १९२९ ई० को मालीकाँदाके अभय-आश्रममें पश्चिम-विक्रमपुर युवक और छात्र-सम्मिलनीके अधिवेशनमें दिया गया सभापतिका अभिभाषण।

कानोके भीतर जो प्रवेश करता है, उसीको सत्य मानकर मनुष्य विश्वास कर लेता है। प्रोपेगंडा (प्रचार) जिसे कहते हैं, वह यही चीज है। विगत महायुद्धके दिनोंमें इस असत्यको कि परस्पर एक-दूसरेका गला काटते फिरना ही मनुष्यका एकमात्र धर्म और कर्तव्य है, दोनो पक्षोंने जो सत्य मान लिया था, सो केवल अनेक लोगोंकी कलम और अनेक वक्ताओंके गलेके मिले हुए चीत्कारका ही फल था। जो दो-एक आदमी प्रतिवाद करने चले थे, असल बात कहनेकी जिन्होने चेष्टा की थी, उन्हे बेहद लाछना और निर्यातन सहना पड़ा था।

किन्तु आज वह दिन नहीं है। असीम वेदना और दुःख भोगकर मनुष्यको होश आया है कि उस दिन अनेक लोगोकी अनेक बातोंमें ही सत्य न था।

कई साल पहले, महात्माजीके अहिंसा असहयोगके युगमे, इस देशमे बहुत-से नेताओंने मिलकर ऊँचे स्वरसे इस बातकी घोषणा की थी कि हिन्दुओ और मुसलमानोंका मिलन होना ही चाहिए। चाहिए केवल इसलिए नहीं कि यह चीज अच्छी है, चाहिए इसलिए कि इसके हुए बिना स्वराजकी या स्वाधीनता-की कल्पना करना भी पागलपन है। उस समय अगर कोई यह पूछता कि क्यो पागलपन है तो नेता लोग क्या जवाब देते, यह तो वे ही जानें, किन्तु लेखोंसे, भाषणोंसे और चीत्कारोंके विस्तारसे यह बात ऐसा बड़ा और स्वतःसिद्ध सत्य हो गई थी कि एक पागल आदमीको छोड़कर और किसीमें इसके प्रति सन्देह प्रकट करनेका दुस्साहस नही रहा।

उसके बाद इस मिलन-बायस्कोपके लिए रोशनी मुहैया करते-करते ही हिन्दुओंके प्राणोंपर बन आई। समय और शक्ति कितनी व्यर्थ गई, इसका तो कुछ हिसाब ही नहीं। इसीके फलस्वरूप महात्माजीका खिलाफत-आन्दोलन शुरू हुआ, इसीके लिए देशबन्धुका पैक्ट (समझौता) हुआ। अथ च भारतके राष्ट्रनीतिक क्षेत्रमे इतनी बडी दो खोखली चीजें भी कम है। पैक्टका फिर भी कुछ अर्थ समझमे आता है, कारण, उसका एक उद्देश्य था, वह चाहे कल्याणकर हो चाहे अकल्याणकर। वह उद्देश्य था समयानुसार एक समझौता करके कौंसिलके भीतर बगाल-सरकारको हराना। किन्तु खिलाफत आन्दोलन तो हिन्दुओंके लिए केवल अर्थहीन ही नहीं, असत्य भी है। किसी

भी मिथ्याका सहारा लेकर जयी नहीं हुआ जा सकता और जिस मिथ्याकी भारी शिलाको गलेमे बॉधकर इतना बड़ा असहयोग-आन्दोलन अन्तको रसातलमें चला गया, वह यही खिलाफतका आन्दोलन था । स्वराज चाहिए, विदेशियोंके शासन-पाशसे छुटकारा चाहिए—भारतवासियोंके इस दावेके खिलाफ अँगरेज शायद एक युक्ति खड़ी कर सकते है, किन्तु विश्वके दरबारमे वह नहीं टिकती । पावे चाहे न पावे, इस जन्मसिद्ध अधिकारके लिए लड़नेमे पुण्य है, प्राण जानेपर अन्तमे स्वर्ग मिलता है । जगत्मे ऐसा कोई नहीं है, जो इसे अस्वीकार कर सके । किन्तु खिलाफत चाहिए—यह कैसी बात है ? जिस देशके साथ भारतका कोई सम्बन्ध नहीं, जिस देशके लोगोंके बारेमे हम कुछ भी नही जानते कि वे क्या खाते हैं, क्या पहनते है, कैसा उनका चेहरा-मोहरा है, वह देश पहले टर्कीके शासनके अधीन था, अब यद्यपि टर्की हार गया है, तथापि सुल्तानको वह लौटा दिया जाय; क्योकि भारतके मुसलमान इसके लिए हठ कर रहे हैं—मचल रहे हैं । यह कौन-सी संगत प्रार्थना है ? असलमे यह भी एक समझौता है । घूसका मामला है । हम क्योंकि स्वराज चाहते है और तुम खिलाफत चाहते हो, अतएव आओ, हम मिलकर खिलाफतके लिए सिर फोड़े और तुम स्वराजके लिए ताल ठोंककर अभिनय करो । किन्तु इधर ब्रिटिश सरकारने कान नही दिया और उधर जिसके लिए खिलाफत थी, उस खलीफाको ही तुर्कोंने देशसे निकाल बाहर कर दिया । अतएव इस तरह खिलाफत-आन्दोलन जब बिलकुल असार और अर्थहीन हो गया, तब अपने खोखलेपनके कारण यह केवल आप ही नहीं मरा, भारतके स्वराज-आन्दोलनका भी गला घोंटता गया । वास्तवमें अब घूस देकर, प्रलोभन दिखाकर, पीठ ठोककर क्या स्वदेशकी मुक्तिके संग्राममे लोग भर्ती किये जा सकते हैं, और न करनेसे ही विजय मिलती है ? नहीं, ऐसा नहीं होता और किसी दिन होगा, यह भी मै नहीं मानता ।

इस मामलेमें सबसे अधिक परिश्रम स्वयं महात्माजीने किया था । जान पड़ता है, इतनी आशा भी किसीने नहीं की थी, और इतना बड़ा धोखा भी किसीने नहीं खाया । उस जमानेमें बड़े-बड़े मुसलमान लीडरोंमेंसे कोई महात्माजीका दाहिना हाथ बना था, कोई बायाँ हाथ, कोई ऑख, कोई कान,

कोई और कुछ। हायरे! इतना बड़ा तमाशेका काम भला और भी कहीं हुआ है! अन्तको हिन्दुओं और मुसलमानोंको मिलानेकी अन्तिम चेष्टा महात्माजीने लंबा इक्कीस दिनका उपवास करके दिल्लीमें की। वह धर्मप्राण सरलचित्त साधु आदमी हैं। उन्होने शायद सोचा था कि इतनी यन्त्रणा देखकर भी क्या उन लोगोंको दया न आवेगी? उस बार किसी तरह उनके प्राण बच गये। भाईसे अधिक, सबकी अपेक्षा प्रिय मौलाना मुहम्मदअली ही सबसे अधिक विचलित हुए। उनकी आँखोंके सामने ही सब-कुछ हुआ था। उन्होंने आँसू गिराकर कहा—आहा! बड़े भले आदमी हैं यह महात्माजी। इनका कुछ सच्चा उपकार करना ही चाहिए। अतएव पहले मक्केशरीफ जाऊँ, जाकर पीरको सिन्नी चढ़ाऊँ और वहाँसे लौटकर, कल्मा पढ़ाकर, यह काफिर धर्म त्याग करा दूँ, तब छोड़ूँ।

सुनकर महात्माजीने कहा—पृथ्वी तू फट जा।

वास्तवमें मुसलमान अगर कभी कहे कि हिन्दूके साथ मेल करना चाहिए तो वह छलनाके सिवा और क्या हो सकता है, यह सोच पाना कठिन है।

एक दिन मुसलमानोंने लूटनेके लिए ही भारतमें प्रवेश किया था। वे यहाँ राज्य स्थापित करनेके लिए नहीं आये थे। उस समय केवल लूट करके ही वे नहीं रुके, उन्होंने देवमंदिर तोड़े, प्रतिमाओंको चूर-चूर किया, स्त्रियोंके सतीत्वको नष्ट किया—दूसरोंके धर्म और मनुष्यत्वके ऊपर जितनी चोट की जा सकती है, उसका जितना अपमान किया जा सकता है, उतना करनेमें उनको तनिक भी संकोच नहीं हुआ।

देशके राजा होकर भी वे इस जघन्य नीच प्रवृत्तिके हाथसे छुटकारा नहीं पा सके। औरंगजेब आदि नामी बादशाहोंकी बात छोड़ दीजिए, जिन अकबर बादशाहके उदार होनेकी इतनी शोहरत है, वह भी बाज नहीं आये। आज मनमें आता है कि यह संस्कार उन लोगोंके अस्थिमज्जागत हो गया है। पबनाके[1] बीभत्स काण्डके बारेमें बहुतोंको यह कहते सुनता हूँ कि पछाँहसे

---

१. पबना पूर्व-बंगालका एक शहर और जिला है। इस शहर और जिलेमें मुसलमानोंने अपने पड़ोसी हिन्दुओं और उनकी बहू-बेटियोंपर घोर अत्याचार किया था। —अनुवादक।

मुसमान मुल्लाओंने आकर भोले-भाले और अशिक्षित-अपढ़ मुसलमानोंको भड़का-कर यह दुष्कर्म किया और कराया है। किन्तु इसी तरह अगर पछाँहसे हिन्दू-पुरोहितोंका दल आकर किसी ऐसे स्थानमें जहाँ हिन्दुओंकी संख्या बहुत हो, ऐसे ही भोले-भाले अपढ़ किसानोंको यह कहकर भड़कानेकी चेष्टा करे कि निरपराध मुसलमान पड़ोसियोंके घरमे आग लगाना, सम्पत्ति लूटना, औरतोंका अपमान और बेइज्जती करना होगा, तो उन सब निरक्षर हिन्दू किसानोंका दल उसको पागल समझकर गाँवसे भगा देनेमे घड़ी-भरकी भी देर न करेगा—नहीं हिचकेगा।

किन्तु ऐसा क्यों होता है? यह केवल अशिक्षित होनेका ही फल है? शिक्षाका अर्थ अगर लिखना-पढ़ना जानना है, तो इस विषयमे हिन्दू और मुसलमान किसान-मजदूरोंमे अधिक अन्तर नहीं है। किन्तु शिक्षाका तात्पर्य यदि अन्तःकरणका प्रसार और हृदयका सस्कार हो, तो कहना ही होगा कि इन दोनों सम्प्रदायोंकी तुलना ही नहीं हो सकती। हिन्दू-नारियोंके अपहरणके मामलेमे देखता हूँ, अखबारवाले प्राय· ही प्रश्न करते है कि मुसलमान-नेता लोग चुप क्यो हैं? उनके सम्प्रदायके लोग बार-बार इतना बड़ा अपराध करते हैं, तो भी वे किसलिए उसका प्रतिवाद नहीं करते? मुँह बन्द करके चुप रहनेका मतलब क्या है? किन्तु मुझे तो जान पड़ता है कि इसका अर्थ बिलकुल ही स्पष्ट है। वे केवल अत्यन्त विनय या मुलाहिजेके कारण ही मुँह फोड़कर नहीं कह पाते हैं कि 'भैया, म आपत्ति क्या करें, समय और सुयोग पानेपर इस काममें हम भी लग जा सकते हैं।'

मिलन बराबरवालों मे होता है। शिक्षा समान कर लेनेकी आशा और चाहे जो करे, मैं तो नहीं करता। हजार वर्षोंमें पूरा नहीं पड़ा, और-और भी हजार वर्ष इसके लिए काफी न होंगे। और अगर इसीकी पूँजी लेकर अँगरेजो-को यहाँसे भगाना हो तो यह काम अभी रहने दिया जाय। मनुष्यके लिए और भी काम हैं। खिलाफत आन्दोलन करके, पैक्ट करके और दाहिने और बाएँ दोनों हाथोंसे मुसलमानोंकी दुम सहलाकर स्वराजकी लड़ाई लड़ी जा सकेगी, यह दुराशा दो-एक आदमियोंके मनमें भले ही हो; किन्तु अधिकांश लोगोंके मनमे नहीं थी। वे यही सोचते थे कि दुःख और दुर्दशाके समान शिक्षा देनेवाला तो दूसरा कोई नहीं है। विदेशी ब्यूरोक्रेसी (नौकरशाही) के

निकट निरन्तर लांछना भोग करके शायद उन लोगों (मुसलमानों) को चैतन्य होगा, शायद हिन्दुओंसे कंधा मिलाकर स्वराजके रथको ठेलनेके लिए राजी हो जायँगे। ऐसा सोचना अन्याय नहीं है, पर उन्होंने केवल यही नहीं सोचा कि लांछनाको समझनेके लिए भी शिक्षाका होना जरूरी है। जिस लांछनाकी आगमे स्वर्गीय देशबन्धुका हृदय जलने लगता था, उससे मेरे शरीरमें आँच भी नहीं लगती। और उससे भी बड़ी बात यह है कि दुर्बलके प्रति अत्याचार करनेमे जिन्हें संकोच नहीं होता, सबलके तलवे चाटनेमें भी उन्हे ठीक उतना ही सकोच नहीं होता। अतएव इस आकाश-कुसुमके लोभसे हम अपनेको काहेके लिए धोखा दें ? हिन्दू-मुसलमान-मिलन एक बड़ा-सा शब्द है जिससे गाल भर जाते है। युग-युगमें ऐसे गाल भरनेवाले अनेक वाक्योंका आविष्कार हुआ है; किन्तु इस गाल भरनेके सिवा वे और किसी काम नहीं आये। यह मोह हम लोगोंको त्याग करना ही होगा। आज बंगालके मुसलमानोंको यह बात कहकर लज्जित करनेकी चेष्टा वृथा है कि सात पीढ़ी पहले तुम हिन्दू थे, अतएव रक्तके सम्बन्धसे तुम हमारे जाति-भाई हो। जाति-वध महापाप है, अतएव कुछ करुणा करो—रहम खाओ। इस तरह कहकर दयाकी भीख माँगने और मेलका प्रयास करने जैसी अगौरवकी बात मैं तो और नहीं देख पाता। स्वदेशमे, विदेशमें, मेरे अनेक ईसाई बन्धु है। किसीके बाप-दादोने और किसीने स्वयं धर्म-परिवर्तन किया है; किन्तु यदि वे खुद अपने परिवर्तित धर्म-विश्वासका परिचय न दें, तो आज भी उनकी किसी बात या रहन-सहनसे यह नहीं प्रकट होता कि वे हमारे भाई-बहन नहीं हैं। मै एक महिलाको जानता हूँ जो थोड़ी ही आयुमे इस लोकसे विदा हो गई हैं। इतनी बड़ी श्रद्धाकी पात्री भी मैंने अपने जीवनमें कम ही देखी हैं। और मुसलमान ? हमारे यहाँ एक रसोइया ब्राह्मण था। एक मुसलमानीके प्रेममे पडकर वह मुसलमान हो गया। एक वर्ष बाद मुझे वह देख पड़ा। उसने नाम बदल लिया है, पोशाक बदल दी है : उसकी प्रकृति बदल गई है, भगवान्‌की दी हुई सूरत भी ऐसी बदल गई है कि वह पहचान नहीं पडता। और केवल यही एकमात्र उदाहरण नहीं है। निम्न श्रेणीकी बस्तीके साथ जिसकी थोडी-बहुत घनिष्ठता है—जहाँ यह काम बराबर हुआ करता है—उससे छिपा नहीं है

कि बात ऐसी ही है। उग्रतातकमें ये लोग जान पड़ता है कोहाटके मुसलमानों-को भी लज्जित कर सकते हैं।

अतएव, हिन्दुओंकी समस्या यह नहीं है कि किस तरह यह अस्वाभाविक मिलन संघटित होगा, हिन्दुओंकी समस्या यह है कि किस तरह वे सघबद्ध हो सकेंगे और हिन्दूधर्मावलम्बी किसी भी व्यक्तिको छोटी जाति कहकर उसका अपमान करनेकी उनकी दुर्बुद्धि किस तरह और कब जायगी। और सबसे बड़ी समस्या यह है कि हिन्दूके अन्तःकरणका सत्य किस तरह उसके प्रतिदिनके प्रकाश्य आचरणमें फूलकी तरह विकसित हो उठनेका सुयोग पावेगा। जो सोचता हूँ, वह कहता नहीं, जो कहता हूँ, वह करता नहीं, जो करता हूँ, उसे स्वीकार नहीं करता:—आत्माकी इतनी बड़ी दुर्गति बरकरार रहते हुए समाज-देहके असंख्य छिद्र-पथ स्वय भगवान् आकर भी बन्द नहीं कर सकेंगे।

यही समस्या और यही कर्तव्य है। हिन्दू-मुसलमानका मेल नहीं हुआ, इसके लिए छाती पीटकर रोते-झीखते फिरनेकी जरूरत नहीं। आप अपना रोना बन्द करेंगे तभी अन्य पक्षसे रोनेवाले आदमी पाये जायँगे।

हिन्दुस्तान हिन्दुओंका देश है। अतएव इस देशको अधीनताकी शृंखलासे छुड़ानेकी जिम्मेदारी अकेले हिन्दुओंकी है। मुसलमान अपना मुँह अरब और टर्कीकी ओर फेरे हुए हैं—इस देशमे उनका मन नहीं है। जो नहीं है, उसके लिए दुःख अथवा क्षोभसे क्या लाभ है और उनके विमुख कानोंके पीछे-पीछे भारतके जल-वायु और थोड़ी-सी मिट्टीकी दोहाई देनेसे ही क्या होगा! आज यही बात अच्छी तरह समझनेकी जरूरत है कि यह काम केवल हिन्दुओंका है, और किसीका नहीं। मुसलमानोंकी संख्या गिनकर घबरानेकी भी आवश्यकता नहीं। संख्या ही संसारमें परम सत्य नहीं है। इससे भी बड़ा सत्य मौजूद है, जो एक दो तीन करके सिर गिननेके हिसाबको हिसाबमें ही नहीं लाता।

हिन्दू-मुसलमानोंके सम्बन्धमें अबतक जो मैंने कहा है, वह शायद कुछ कड़वा लगेगा, किन्तु इसके लिए चौंकनेकी जरूरत नहीं है, मुझे देशद्रोही समझनेका भी कोई कारण नहीं। मेरे कहनेका मतलब यह नहीं है कि इन दोनों पड़ोसी जातियोंके बीच यदि एक सद्भाव और प्रीतिका बन्धन होगा, तो वह चीज मुझे पसन्द न होगी। मेरा वक्तव्य यही है कि यह चीज अगर नहीं ही हो

और होनेके कोई लक्षण अगर फिलहाल न देख पड़े, तो इसके लिए दिन-दिन आर्तनाद करनेसे कोई सुविधा नहीं होगी। और इस मनोभावकी भी कोई सार्थकता नहीं है कि न होनेसे ही बड़ा भारी सर्वनाश हो गया। अथ च, ऊपर-नीचे, दाहिने-बाएँ, चारों ओरसे एक बात बारंबार सुनकर उसे हम ऐसा ही सत्य मानकर विश्वास कर बैठे हैं कि जगत्‌में इसके अलावा हमारी और कोई गति या उपाय है यह सोच ही नहीं सकते। इसीसे करते क्या हैं? यही कि अत्याचार और अनाचारके विवरण सब स्थानोंसे संग्रह करके कहते फिरते हैं कि यह तुमने हमें मारा, हमारे देवताओंके हाथ-पैर तोड़ डाले, यह हमारा मंदिर तोड़-फोड डाला, यह हमारी महिलाका अपहरण किया—और, यह सब तुम्हरा बडा अन्याय है और इससे हम अत्यन्त व्यथित होकर हाहाकार करते हैं। यह सब तुम न बन्द करोगे तो हम टिक नहीं सकते। वास्तवमें इससे अधिक हम क्या कहते हैं और क्या करते हैं? हमने निःसंशय होकर यह ठीक कर लिया है कि चाहे जिस तरह हो, मिलन करनेका भार हम लोगोंपर और अत्याचार निवारण करनेका भार उन लोगोंपर है। किन्तु वास्तवमें होना चाहिए ठीक इससे उल्टा। अत्याचार निवारण करनेका भार हमें खुद लेना चाहिए, और हिन्दू-मुसलिम एकता नामकी अगर कोई चीज हो तो उसे पूरा करनेका भार मुसलमानोंके ऊपर छोड़ देना चाहिए।

तो फिर देश कैसे मुक्त होगा? किन्तु मैं पूछता हूँ, मुक्ति क्या इस तरह होती है? छुटकारा पानेके व्रतमें हिन्दू जब अपनेको प्रस्तुत कर सकेंगे, तब इसपर ध्यान देनेकी भी जरूरत न होगी कि मुट्ठीभर मुसलमान इसमें शामिल हुए या नहीं। भारतकी स्वतन्त्रतासे मुसलमानोंको भी स्वतन्त्रता मिल सकती है, इस सत्यपर वे किसी दिन निष्कपट भावसे विश्वास नहीं कर सकेंगे। कर सकेंगे केवल तभी, जब उनका अपने धर्मके प्रति मोह कम होगा; जब वे समझेंगे कि कोई भी धर्म हो, उसके कट्टरपनको लेकर गर्व करनेके बराबर मनुष्यके लिए ऐसी लज्जाकी बात, इतनी बड़ी बर्बरता और दूसरी नहीं है। किन्तु उनके यह समझनेमें अभी बहुत देर है। और, दुनियाभरके लोग मिलकर मुसलमानोंकी शिक्षाकी व्यवस्था न करें तो इनकी आँखें किसी दिन खुलेंगी या नहीं, इसमें सन्देह है। और क्या देशकी स्वतन्त्रताके संग्राममें देशभरके सभी

लोग कमर बाँधकर लग जाते हैं ? क्या यह सम्भव है या इसका प्रयोजन होता है ? अमेरिकाने जब स्वाधीनताके लिए युद्ध छेड़ा था, तब उस देशके आधेसे अधिक लोग अँगरेजोंके ही पक्षपाती थे। आयर्लैण्डके मुक्ति-यज्ञमे वहाँके कै जने शामिल हुए थे ? जो बोल्शेविक (साम्यवादी या कम्युनिस्ट) सरकार आज रूसका शासन चला रही है, उस देशकी जन-संख्याके अनुपातमे वह तो एक प्रतिशत भी नही पड़ती । मनुष्य तो गऊ या घोडा नही है। केवल मात्र भीड़का परिमाण देखकर ही सत्य-असत्यका निर्द्धारण नही होता, होता है केवल उनकी तपस्याका, उनकी लगनका विचार करके। इस एकाग्र तपस्याका भार देशके युवकोंके ऊपर है। हिन्दू-मुसलिम एकताकी चाल या कौशल सोचना भी उनका काम नहीं है और जो सब प्रधान राजनीतिविशारद दल इसी युक्ति या कूट-कौशलको भारतकी मुक्तिका एकमात्र अद्वितीय उपाय कहकर चिल्लाते फिरते हैं, उनके पीछे जय-ध्वनि करनेमे समय नष्ट करके घूमना भी उनका काम नही है। ससारमें बहुत-सी ऐसी चीजे हैं, जिन्हे छोड़नेपर ही उनको पाया जाता है। हिन्दू-मुसलिम एकता भी इसी तरहकी चीज है। जान पड़ता है, इसकी आशा बिलकुल छोड़कर काममे लग जा सकनेपर ही शायद एक दिन इस अत्यन्त दुष्प्राप्य निधिके दर्शन मिलेंगे। कारण, तब मिलन केवल एककी चेष्टासे ही नहीं होगा, वह होगा दोनोकी हार्दिक और सम्पूर्ण इच्छाका फल।[1]

साम्प्रदायिक बँटवारा (१)

बंगालकी हिन्दू जनताका यह सम्मेलन जिन्होंने आयोजित किया है, उनमें एक मैं भी हूँ। यह विराट् सभा केवल इसी नगरके नागरिकोकी नहीं है। आज जो लोग एकत्र हुए हैं, वे बंगालके विभिन्न जिलोंके रहनेवाले है। सबका वर्ण शायद एक नहीं है, किन्तु भाषा एक है, साहित्य एक है, धर्म एक है, जीवन-यात्राके मूलकी बात एक है। जो विश्वास और निष्ठा हमारे इहलोक-परलोकका नियंत्रण करती है, उसमें भी हम कोई किसीके गैर नहीं हैं। गैर बना

---

१. बगला सन् १३३६, १९ आश्विनके 'हिन्दू-संघ' में प्रकाशित लेख।

देनेके अनेक उपाय अनेक प्रकारके कौशल रहते भी मैं कहूँगा कि हम सब आज भी एक हैं। जो बन्धन युगोंसे हम लोगोंको एक बनाये हुए है, आज भी वह नहीं टूटा, यह बिलकुल सत्य है।

बंगालकी उसी समग्र हिन्दू जातिकी ओरसे और जो लोग इस सभाका आयोजन करनेवाले हैं उनकी ओरसे, मैंने विनयपूर्वक सम्मानके साथ रवीन्द्रनाथ को इस विराट् सभाका नेतृत्व ग्रहण करनेके लिए निमंत्रित किया है।

सभापतिका परिचय देनेकी एक प्रथा है; किन्तु रवीन्द्रनाथके इस विराट् नामके आगे या पीछे कौन-सा विशेषण जोड़ा जाय? विश्व-कवि, कविसार्वभौम इत्यादि बहुत-कुछ लोगोंने पहले ही जोड़ रक्खा है। किन्तु हम लोग—जो उनके शिष्य-सेवक हैं—अपने बीच खाली 'कवि' कहकर ही उनका उल्लेख करते हैं। बाहर कहते हैं रवीन्द्रनाथ। मैं जानता हूँ, सभ्य जगत्के एक सिरेसे दूसरे सिरे-तक इस व्यक्तिको समझनेमें किसीको भी कोई असुविधा नहीं होगी। इस समय कविका मन थका हुआ है, देह दुर्बल और अवसन्न है। इस भारी भीड़के बीच उनको बुलाकर लाना विपज्जनक है। तो भी हमने उनसे अनुरोध किया था। मन ही मन इच्छा थी कि दुनियामें किसीको भी अज्ञात न रहे कि इस सभाके नेतृत्वका भार किसने वहन किया। कविने स्वीकार किया; बोले—अच्छा। तो उनका वक्तव्य उनके मुँहसे ही व्यक्त हो।

हम उन्हें अपने कृतज्ञ चित्तका नमस्कार निवेदन करते हैं।

भारत-राज्य-शासनकी नई मशीन विलायतके मन्त्रियोंने बहुत दिनोंमें बड़े जतनसे तैयार की है। जहाजपर लाद दी गई है—बस आती ही होगी। हममेंसे कोई ठीक तौरसे नहीं जानता कि उसमें कितने छोटे-बड़े चक्के हैं, कितने डंडे हैं, कितने कल-कब्जे हैं, कौन किधर घूमता है—किधर फिरता है, किस ओर आगे बढ़ता है। और यह धारणा भी किसीको नहीं है कि उसका मूल्य आखिर-तक क्या देना होगा। मशीन बनते समय बीच-बीचमें सिर्फ यह खबर पाई गई थी कि इस देशसे उस देशमें बहुतसे बुद्धिमान् लोग बुद्धि देनेके लिए रवाना किये गये हैं। उन्होंने क्या बुद्धि दी, वह सूक्ष्म तत्त्व हम साधारण मनुष्य नहीं समझते; केवल इतना ही समझमें आया है कि एक पक्षने बड़े ऊँचे स्वरमें बहुत चीख-पुकार मचाई थी कि यह नई मशीन उन्हें नहीं चाहिए, और दूसरे पक्षने

धमकाकर कहा था कि जरूर चाहिए,—चिल्लाओ नहीं। अतएव अन्तको यह स्वीकार करना ही पड़ा कि चाहिए। बहुतोंकी धारणा है कि वह मशीन ऊख पेरनेकी बहुत बड़ी कल जैसी है। उसके एक ओर छिलके और फोक जमा होता है और दूसरी ओर रस। वह रस पात्रमें जमा होकर किस दिशामें भेजा जायगा—यह प्रश्न केवल फिजूल ही नहीं, शायद अवैध भी है। भय है, तो भी प्रश्न किया जा सकता है कि राष्ट्रकी व्यवस्थामे धर्म-विश्वास ही क्या सबसे बड़ा हो गया और मनुष्य छोटा हो गया ? जो व्यवस्था जगत्मे कही नहीं है, जिससे कहीं कल्याण नहीं हुआ, वही क्या इस अभागे देशमे Special and peculiar circumstances (विशेष और विलक्षण अवस्था या स्थिति) मान ली गई ? और नाबालिगोंके ट्रस्टियोंके सिवा उसे और कोई नही समझता ?

किन्तु यह तो हुआ पालिटिक्स या राजनीति। इसकी आलोचना करनेका भार मेरे ऊपर नहीं है। इस विषयका हाल जो जानते है, वे अभिज्ञ लोग ही इस तत्त्वको समझा देनेके योग्य पात्र हैं; मै नही।

तो भी अन्तमे एक बात कहे रखता हूॅ। किसी-किसीकी धारणा है कि हमने सुविचारकी आशासे विलायतको memorandam (स्मृतिपत्र) भेजा है। पर यह विश्वास हममेंसे किसीको नही है; हमने असलमे अन्यायका प्रतिवाद भेजा है। यह नई शासन-व्यवस्था आदिसे अन्ततक बुरी है। उस अपरिसीम बुराईके भीतर बंगालके हिन्दुओंकी ही सबसे अधिक क्षति हुई है। आईनकी कील ठोककर उनको हमेशाके लिए छोटा किया गया है। तथापि यह बात सत्य है कि देशके मुसलमान भाइयोंने दस-पन्द्रह जगहे अधिक पाई है, इसलिए मैं उनसे कहना चाहता हूॅ कि अन्याय और अविचार एक आदमीके साथ भी होता है तो उससे अकल्याण ही होता है। उससे अन्ततक न मुसलमानोंका, न हिन्दुओका और न जन्मभूमिका—किसीका भी मंगल न होगा।'

---

१. १५ जुलाई सन् १९३६ ई० को कलकत्तेके टाउनहालमें हुई साम्प्रदायिक बँटवारेकी प्रतिवाद-सभाके आरम्भ करनेके समय दी गई वक्तृता। ('वातायन' की १ श्रावण, १३४३ बगला सन्की संख्यामें प्रकाशित)।

साम्प्रदायिक बँटवारा (२)

नवीन शासन-तन्त्रमें समग्र भारतके हिन्दुओंके—खासकर बंगदेशके हिन्दुओंके—प्रति जितना अविचार किया गया है, उतना बड़ा अविचार और नहीं हो सकता। बहुत लोग शायद समझेंगे कि इस अविचारका प्रतिकार करनेकी क्षमता हमारे हाथमें नहीं है और यह सोचकर ही वे निश्चेष्ट रहेंगे, प्रतिवाद नहीं करेंगे। किन्तु यह सत्य नहीं है। अगर इस अन्यायको रोकनेकी क्षमता किसीमें है तो वह हममे ही है।

इस आशासे कि देशका साहित्य शायद इससे बड़ा हो, मैं जन्मसे साहित्यकी सेवा करता आया हूँ, और इसी आशासे मैंने साहित्यके काममें, देशके काममें अपनेको सम्पूर्ण रूपसे लगा दिया है। किन्तु अब अवस्था ऐसी होने जा रही है कि मुझे डर हो रहा है कि शायद दस वर्षके भीतर ही साहित्यका एक और युग आ जायगा—शायद उस दिन रवीन्द्रनाथ नहीं रहेंगे, शायद मैं भी अब उतने दिनतक जीवित नहीं रहूँगा। इसीलिए अभीसे उस अवस्थाकी बात सोचकर मैं शंकित हो उठा हूँ।

बंगला-साहित्यको विकृत करनेकी एक हीन प्रचेष्टा चल रही है। कोई कहता है कि भाषामें संख्याके अनुपातसे इतने अरबी शब्दोंका व्यवहार करो, कोई कहता है कि इतने फारसी-शब्दोंका व्यवहार करो, और कोई कहता है कि इतने उर्दू शब्दोंका व्यवहार करो। यह एकदम अकारण है,—जैसे छोटा बच्चा हाथमें छुरी पा जाता है और घरकी सब चीजोंको काटता फिरता है, यह भी ठीक उसी तरह है।

इसके बाद इतना बड़ा अविचार जो हम लोगोंके—हिन्दुओंके—ऊपर हुआ, उसे जानकर भी वे चुप हो रहे, यही सबसे बढ़कर दुःखकी बात है। यह क्या वे नहीं समझते कि यह जो विष, यह जो क्षोभ हिन्दुओंके मनमें जमा हो रहा है, यह एक-न-एक दिन रूप पावेगा ही। उसकी एक प्रतिक्रिया है, यह भी क्या वे नहीं सोचते ? इस तरहसे तो कोई देश चल नहीं सकता. कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। यह भी तो उनकी जन्मभूमि है। देखिए, केवल देनेसे ही नहीं होता,—ग्रहण करनेकी शक्ति भी तो एक शक्ति है। आज अगर वे यह सोचें

कि ब्रिटिश गवर्नमेंटके ढाल देनेसे ही उनका पाना हो गया, तो एक दिन उन्हे पता चलेगा कि इनती बडी भूल और नही है।

मैं अपने मुसलमान भाइयोसे कहता हूँ कि तुम सस्कृतिके ऊपर नजर रक्खो, साहित्यके ऊपर नजर रक्खो और छोटे बच्चेकी तरह धारदार छुरी हाथमें पा गये हो तो सब-कुछ काटते मत फिरो।

मेरी रायमे अन्यायको स्वीकार न करना चाहिए, भरसक उसका प्रतिकार करना चाहिए। यह जो अन्याय हम लोगोके ऊपर हुआ है, उसका प्रतिकार करना ही होगा। अगर हम न कर सके तो दस वर्ष बाद—बगाली आज जिसका गौरव करते है—इसका कुछ भी बाकी न रहेगा। इसीसे अपनी क्षुद्र शक्तिसे जितना हो सकेगा, उतना इस अन्यायका प्रतिवाद मै करूँगा। कारण, यह अन्याय अगर चलने दिया गया तो देशमे न हिन्दुओंका, न मुसलमानोका, किसीका भी कभी मगल न होगा।[1]

युव-संघ

कल्याणीय 'वेणु' (पत्रिका) के किशोर और किशोरी पाठकगण, उत्तर-बंगके रंगपुर शहरसे तुम लोगोंको यह पत्र लिख रहा हूँ। जान पडता है, तुम लोग जानते हो, बंगालमे 'युव-समिति'के नामसे एक सघकी स्थापना हुई है। शायद अबतक तुम लोग इसके सदस्य नहीं बने हो; किन्तु एक दिन यह समिति तुम्हीं लोगोके हाथमें आ पड़ेगी। इसीसे इसके सम्बन्धमे दो-चार बातें तुम्हे बता रखना चाहता हूँ। समितिका वार्षिक सम्मेलन कल समाप्त हो गया है। मै बूढ़ा आदमी हूँ, तो भी लड़के-लड़कियाँ मुझे ही इस सम्मेलनका नेतृत्व करनेके लिए बुला लाये। उन्होंने मेरी अवस्थाका खयाल नहीं किया। जान पडता है, इसका कारण यह है कि न जाने किस तरह उन्होंने समझ लिया है कि मै उनको

---

१. अलबर्ट हालमें साम्प्रदायिक निर्धारणके प्रतिवादके लिए बुलाई गई सभाके सभापतिका भाषण। (वातायन पत्रके बगला सन् १३४३ की १५ श्रावणकी संख्या में प्रकाशित।)

पहचानता हूँ। उनकी आशा और आकांक्षाकी बातोंसे मै परिचित हूँ। मैं उन लोगोंके निमन्त्रणको स्वीकार करके आनन्दके साथ केवल यही बात उन्हे बतानेके लिए दौड़ आया था कि देशकी सब भलाई-बुराई उन्हींके हाथमें निर्भर है, इस सत्यको वे सम्पूर्ण हृदयसे अनुभव करें—समझें। अथ च, उनके इस परम सत्यको समझनेकी राहमे न जाने कितनी बाधाएँ खड़ी है, उनकी नजरमे यह सत्य न पड़ने देनेके लिए न जाने कितने आवरण तैयार हुए है। और तुम लोगोंके लिए तो जिनकी अवस्था और भी छोटी है, बाधाएँ अनन्त हैं। बाधा जो लोग देते हैं, वे कहते है कि सभी सत्य जाननेका सभीको अधिकार नहा है। यह युक्ति ऐसी जटिल है कि 'ना' कहकर सम्पूर्ण रूपसे इसे उड़ा भी नहीं दिया जा सकता और 'हाँ' कहकर भी सम्पूर्ण मान लिया नहीं जा सकता। और यहींपर उनका जोर है। किन्तु इस तरहसे इस बातका निर्णय नहीं होता। हुआ भी नहीं। सब देशोंमे, सभी समयोंमे, प्रश्नके ऊपर प्रश्न उठे है, अधिकार-भेदका तर्क उठा है, अन्तमे वयस छोड़कर मनुष्यकी छोटी-बड़ी, ऊँच-नीच अवस्थाकी दोहाई देकर मनुष्यने मनुष्यको ज्ञानके दावेसे या अधिकारसे भी वंचित कर रक्खा है।

तुम लोग भी इसी तरह जन्मभूमिके सम्बन्धमे अनेक तथ्यों, अनेक ज्ञानोंसे वञ्चित हो रहे हो। इस आशकासे कि सच्ची खबर पानेसे तुम लोगोका मन न भटके, कहीं तुम्हारी स्कूल-कालेजकी पढ़ाईमे, कहीं तुम्हारी परीक्षा पास करनेकी परम वस्तुमे धक्का न लगे, मिथ्यासे भी तुम्हारी दृष्टि अवरुद्ध की गई है, यह खबर शायद तुम लोग जान भी न सकते।

युव-समितिके सम्मेलनमें यही बात मैने सबसे अधिक कहनी चाही थी। कहना चाहा था कि तुम्हारे पराधीन देशको विदेशी शासनसे मुक्त करनेके अभि-प्रायसे तुम लोगोंके इस सघका गठन हुआ है। स्कूल-कालेजके छात्रोको पढ़नेकी अवस्थामे भी देशके काममें योग देनेका—देशकी स्वाधीनता-पराधीनताके बारेमे सोचने-विचारनेका अधिकार है और इस अधिकारकी बातको भी मुक्तकण्ठसे घोषित करनेका अधिकार है।

अवस्था देशकी पुकार सुननेसे कभी किसीको रोक नहीं रख सकती—तुम्हारे जैसे किशोर अवस्थावालोंको भी नहीं।

परीक्षा पास करनेकी आवश्यकता है—किन्तु यह उससे भी अधिक आवश्यक है। बाल्यावस्थामे इस सत्य चिन्तासे अपनेको अलग रखनेसे जिस टूटनेकी सृष्टि होती है, एक दिन अवस्था बढनेपर भी वह जुड़ना नहीं चाहता। इस अवस्थाका सीखना सबसे बड़ी शिक्षा है। वह एकदम रक्तमे घुल-मिल जाती है।

मैं खुद भी तो देखता हूँ कि एक दिन माताकी गोदमे बैठकर जो सीखा था, वह इस बुढ़ापेमे भी वैसा ही बना है, भूला नही। उस शिक्षाका फिर क्षय नही होता।

तुम लोग अपनी खेलामें भी ठीक यही जानो। यह न सोचो कि आज अवहेलासे जिधर तुमने नही देखा, उसे और एक दिन बड़े होकर इच्छा करते ही देख पाओगे। शायद देख न पाओगे, शायद हजार चेष्टा करनेपर भी वह दुर्लभ वस्तु सदाके लिए आँखोंकी ओटमें रह जायगी। जो शिक्षा परम श्रेय है, इस किशोर अवस्थामे ही उसे शिराओके रक्तके भीतर प्रवाहित करके ग्रहण करना होता है, तभी उसे यथार्थ करके पाया जाता है। कलकी इस युवक-समितिके युवकोने काग्रेसके रग-ढंग बाल्यकालमें ही ग्रहण कर लिये थे, इसीलिए उस रीति-नीतिको फिर वे छोड़ नही सके। यह भयकी बात है।[१]

रंगपुर, १७ चैत्र]

वर्तमान राजनीतिक प्रसंग

कुछ दिनसे ऐसी एक चीख-पुकार सुन रहा हूँ कि काग्रेसने भूल की है। किन्तु इस कोलाहलके बीच सत्यका अंश कितना है, इसका विचार नही हुआ।

मै स्वयं कभी एकाएक किसी विषयमे कोई धारणा नही बना लेता। जो लोग जोर गलेसे प्रचार करते है कि उनका दावा ही प्रबल है, उनकी बात भी

---

१. 'वेणु' पत्रिकाकी तृतीय वर्षकी प्रथम संख्यामें (बंगला सन् १३३६, वैशाख) प्रकाशित।

मै सहजमे स्वीकार नहीं करता। इसीसे कांग्रेसके विरुद्ध इस युक्तिहीन निन्दाके प्रचारको मान लेना मेरे लिए कठिन है।

जो लोग इस नये आन्दोलनके अगुआ है, उनपर एकनिष्ठ प्रवीण कर्मीके हिसाबसे मै श्रद्धा रखता हूँ, देशकी राजनीतिक साधनाके इतिहासमे उनकी देन भी मै कम नहीं मानता। किन्तु देशके लिए दु:खका बोध उनमे कांग्रेसकी अपेक्षा भी अधिक है, इस बातको प्रमाणित करनेके लिए मेरी समझमे कोई नया दल खड़ा करनेका प्रयोजन न था। कांग्रेस देशकी सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था है, कांग्रेस साम्प्रदायिक भेदभावके विरुद्ध चिरकालसे लड़ती आई है। आज उसे छोटा प्रमाणित करनेकी चेष्टासे किसीका व्यक्तिगत गौरव कुछ बढ़ा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता; किन्तु देशका गौरव तनिक भी नहीं बढ़ा।

देशसेवा जबतक धर्मका रूप नहीं ले लेती, तबतक उसके भीतर थोड़ी-सी धोखा-धड़ी रह जाती है। यह बात मैं प्रतिदिन मर्म-मर्ममें अनुभव करता हूँ और धर्म जब देशसे भी ऊँचा हो जाता है, तब भी विपत्ति घटित होती है। महात्माजी जानते हैं और वर्किंग कमेटी भी जानती है कि उन्होने गलती नहीं की। मालवीयजी और अणेका विरुद्ध आचरण भी महात्माजीको विचलित नहीं कर पाया। अतएव वे अगर कांग्रेससे सम्बन्ध त्याग ही दें तो उसके साथ इस गडबड़का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। उनको असल भय है सोशलिज्म (साम्यवाद) का। उन्हे घेरे हुए हैं धनी लोग, व्यवसायी लोग। फिर वह समाजतन्त्रवादियोको कैसे ग्रहण करेंगे? इस जगह महात्माजीकी कमजोरी स्वीकार करनी ही पडेगी।

एक बात मैं जानता हूँ कि बंगालके मुसलमानोने भी ज्वाइंट इलेक्टोरेट (सयुक्त निर्वाचन) मॉगना शुरू कर दिया है। यह न होनेपर दोष कहॉ है, इस बातको वे अच्छी तरहसे जानते है। यह भूलनेसे काम न चलेगा कि अधि-काश धनी मुसलमान ही नायब, गुमाश्ता, वकील और डाक्टरके कामोंमे अपनी जातिकी अपेक्षा हिन्दुओंपर अधिक विश्वास करते है। साथ ही साथ यह भी मै कहता हूँ कि प्रत्येक हिन्दू ही मनसे हृदयसे नेशनलिस्ट (राष्ट्रवादी) है। धर्मविश्वासमे भी वे किसीसे कम या छोटे नहीं हैं। उनके वेद, उनके उपनिषद् बहुत लोगोंकी बडी तपस्याके फल हैं। तपस्याका अर्थ ही है चिन्तन। बहुत

लोगोंके बहुतर चिन्तनके फलस्वरूप जो धर्म गठित हुआ है, उसे, जान पड़ता है, आईन-सभामे कुछ सीटे कम होनेकी आशंकासे सर्वनाशका भय दिखानेका प्रयोजन न था।[१]

साहित्य और नीति

साहित्य-सेवा ही मेरा पेशा है, किन्तु इसकी जॉच-पड़तालके और घिसने-मॉजनेके मामलेमे मैं बिलकुल ही अनभिज्ञ हूँ—मेरे मुँहसे यह बात अद्भुत सुनाई देनेपर भी है यथार्थ सत्य। किस धातुके आगे कौन प्रत्यय लगाकर 'साहित्य' शब्द सिद्ध हुआ है, कहॉपर इसका विशेषत्व है, रस वस्तु क्या है, सच्चा आर्ट (कला) किसे कहते है, मिथ्या आर्ट किसे कहते है, इसकी सज्ञा क्या है, यह मै नहीं जानता। सुदूर प्रवास (वर्मा) मे क्लर्की कर रहा था, घटनाचक्रसे, लगभग दस वर्ष हुए, इस व्यवसायमें लिप्त हो गया हूँ। कई एक पुस्तके लिखी है, जो किसीको अच्छी लगी, बहुतोंको नहीं लगी। जो लोग पंडित हैं, उन्होंने बड़ी-बड़ी किताबोंमेसे कड़ी-कड़ी न काटी जा सकनेवाली नजीरे देकर यह प्रमाणित किया कि बंगला भाषाका मैंने एकदम सर्वनाश कर दिया है। मुझे मालूम नहीं, इतनी जल्दी इतना बड़ा कुकर्म मैंने किस तरह कर डाला, और इसकी क्या कैफियत दूँ, यह मुझे पूर्णरूपेण अज्ञात है। अतएव किसी तथ्यपूर्ण गम्भीर गवेषणाकी लेशमात्र भी आशा आप लोग मुझसे न करे।

वाद-प्रतिवादमे लिप्त होना मेरा स्वभाव नहीं। अपने पक्षका समर्थन करने लायक शक्ति या उद्यम, कोई भी मुझमे नहीं। मै केवल अपने छोटेसे साहित्यिक जीवनकी परिणतिकी कुछ सादी मोटी-मोटी बाते ही आप लोगोके आगे कह सकता हूँ। शायद कहनेका कुछ प्रयोजन भी है। जवाबदेहीके रूपमे नहीं; क्योंकि पहले ही कह चुका हूँ कि यह मै नहीं करता। करनेकी आवश्यकता भी नहीं समझता। यह केवल एक आधुनिक साहित्य-सेवककी

१. नागरिक पत्रकी शारदीया सख्यामें, बगला सन् १३४१ में, प्रकाशित।

बिलकुल ही अपनी बातें हैं, जो मैं कहना चाहता हूँ। परलोकके बारेमें मैं नहीं जानता कि वहाँ क्या है, किन्तु इस लोककी जीवन-यात्राके मार्गमें जहाँ तक दृष्टि जाती है, देखा है कि विश्वका मानव एक वस्तुको लक्ष्य करके बराबर चल रहा है। उस वस्तुके तीन अंश हैं—art (कला), morality (नीति या सदाचार) और religion (धर्म)। संसारकी सारी मार-काट छीना-झपटी, एकका राज्य दूसरेके द्वारा छीना जाना, एक आदमीकी दुःखकी कमाईको दूसरेके द्वारा ठग लिया जाना, सब प्रकारके काम, क्रोध, लोभ, मोह—ये सब राहके रोड़े हैं, चलनेमें चुभनेवाले काँटे हैं; किन्तु मानवका जो वृहत्तर प्राण है, उसका लक्ष्य केवल इसी जगह है। मारवाड़ी अपनी कपडेकी दूकानपर बैठे-बैठे यह बात सुनकर हँसेगा, बड़े कम्पनीका बड़ा साहब अपने आफिसके टेबिलपर इस सत्यकी उपलब्धि नहीं कर सकेगा, स्टाक-एक्सचेंजकी भीड़में यह बात बिलकुल ही मिथ्या जान पडेगी, तो भी मैं जानता हूँ कि उनकी भी अन्तिम गति इसी जगह है और इससे बढकर या इससे बड़ा सत्य भी और नहीं है। काहेके लिए इतना लोभ, इतना मोह है? काहेके लिए इतना वाद-विवाद और झगडा है? काहेके लिए ऐसे ऐश्वर्यकी कामना है? जो सच्चा ऐश्वर्य है वह सदैव मनुष्यके नित्यके प्रयोजनसे अतिरिक्त है। मनुष्य अकेले उसका उपार्जन करता है, सचय करता है; किन्तु जिस घडी वह ऐश्वर्य बन जाता है, उसी घडी वह उसके अकेले अपने ही भोगकी चीज नहीं रह जाता। ऐश्वर्यको अकेले ही भोगनेकी चेष्टा करते ही वह अपनेको आप ही व्यर्थ कर देता है। जो सभीका है, वहाँ एक आदमीका लोभ परास्त होगा ही। और इस ऐश्वर्यकी चरम परिणति कहाँपर है? सुन्दर और मंगलकी साधनामें—कला, नीति और धर्ममें। यह अकेलेका नहीं है। यह ऐश्वर्य विश्व-मानवका है। जाने या बिना जाने मनुष्यकी चेष्टा—मनुष्यका उद्यम इसी ऐश्वर्यको लानेकी ओर ही अविराम चल रहा है। अतएव जो असुन्दर है, जो अनैतिक (immoral) है, जो अकल्याण है, वह किसी तरह art (कला) नहीं है, धर्म नहीं है। art for art's sake (कला कलाके लिए) की उक्ति भी किसी तरह सत्य नहीं है। सैकड़ों-हजारों आदमियोंके चिल्ला-चिल्लाकर कहनेपर भी सत्य नहीं है। मानव-जातिमें जो बड़ा प्राण

है, वह इसे किसी तरह ग्रहण नहीं करता—स्वीकार नहीं करता। अतएव सच्चा कवि या यथार्थ आर्टिस्ट (कलाकार) कहकर जिसे हम एक हाथसे ग्रहण करेंगे, उसीकी सृष्टिको अन्याय कहकर, कुत्सित कहकर दूसरे हाथसे वर्जन किया ही नहीं जा सकता। बल्कि ऐसा करनेकी चेष्टा करनेसे सबसे बड़ी भूल और सबसे बड़ा अन्याय ही होता है।

किन्तु यह तो हुआ theory (सिद्धान्त) की ओरसे, आदर्शवादकी ओरसे विचार। इसमे शायद उतना विवाद नहीं है। किन्तु स्वयं कविके भीतर, कलाकारके भीतर, जहाँ एक छोटा-सा मनुष्य रहता है, हंगामा खड़ा होता है उसीको लेकर। इस जगह लोभ, मोह, यश, निन्दा, prejudice (दुराग्रह), संस्कार आदि बीच-बीचमे ऐसा कुहासा पैदा कर देते है कि उसके अँधेरे आश्रयमे ही अनेक proud (धोखे), अनेक उत्पात घुसकर दारुण उपद्रवकी दीवार खड़ी कर देते हैं। इसी जगह असत्य और अकल्याणका द्वार है। इस अन्धकारमें अधिकारी और अनधिकारी, कवि और अकवि, सुन्दर और कुत्सित, काव्य और गन्दगी मिलकर जो मंथन शुरू कर देते हैं, उसकी कीच ही छिटककर बिना किसी विचारके सभीके मुँहमे लग जाती है। इस कीचको केवल समय ही धो दे सकता है। इसके हाथसे ही केवल अनागत भविष्यमे शुद्ध और स्नात होकर सत्य वस्तु मनुष्यको देख पड़ती है। इसी कारण जान पड़ता है, कविके भीतर उसका जो अंश कवि है, उसे इस चरम विचारकी प्रतीक्षा करनेमें अटकाव नहीं होता; किन्तु उसका जितना अंश छोटा मनुष्य है, केवल उसे ही सब्र नहीं होता। वह कलह करता है, विवाद करता है, दलबन्दी करता है, हाथोंहाथ नगद मूल्य चुका लिये बिना उसे चैन नहीं। सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें उसकी यही जगह बारबार बाहर आ जाती है।

पूज्यपाद रवीन्द्रनाथ कहते है, वह स्कूलमास्टर नहीं है, कवि है। बेत हाथमें लेकर लड़कोंको मनुष्य बनाना उनका पेशा नहीं है। इस बातको लेकर उनके विरुद्ध व्यक्त और अव्यक्त कटु बातोंका सिलसिला बराबर चल रहा है। इन कटु बातोंके मालिक जो लोग है वे, जान पड़ता है, कविकी इस उक्तिका यह अर्थ करते है कि चूँकि वह बेत हाथमे लेकर लड़कोंको मनुष्य बनानेके लिए राजी नहीं है—बातचीतके बहाने भुलाकर बूढ़े लड़कोंको नीतिकी शिक्षा

देना नहीं चाहते, तब निश्चय ही उनका मंशा लड़कोंको कहींका न रखना या वहेतू वना देना ही है। किन्तु कविके हृदयकी इस वातको वे समझना या ग्रहण करना ही नहीं चाहते कि काव्य—जो सचमुच काव्य है, वह—चिरसुन्दर, चिर-कल्याणकर है। और इन सब फरफद-फिकरोंके वीच ही कवि और काव्य अपनेको आप निष्फल कर डालते हैं, इस सत्यको ही वे भूल जाते हैं।

इसी वातको मैं यहाँ कुछ दृष्टान्त देकर स्पष्ट करना चाहता हूँ। मेरा अपना पेशा उपन्यास-साहित्य है, अतएव इस साहित्यके विषयमें दो-एक बातें कहना शायद मेरी विलकुल ही अनधिकार-चर्चा नहीं गिनी जायगी। जो लोग मेरे नमस्य (प्रणाम करने योग्य) हैं, मेरे गुरुपदवाच्य हैं, उनकी रचनासे एक-आध उदाहरण देनेमें यद्यपि थोड़ा-सा विरुद्ध मत रहता है, पर मैं आशा करता हूँ, आप लोगोंमेंसे कोई उसे असम्मान या अश्रद्धा समझनेकी भूल नहीं करेगा। मेरे साहित्यिक जीवनकी परिणतिके प्रसंगमें इसका प्रयोजन भी है। आज-कल ये दो शब्द प्रायः सुने जाते हैं—Idealistic (आदर्शवादी) और Realistic (यथार्थवादी)। कहा जाता है कि मैं दूसरे सम्प्रदायका लेखक हूँ। यह दुर्नाम ही मेरा सबसे अधिक है। अथ च, मुझे नहीं मालूम कि किस तरह इन दोनोंको अलग करके लिखा जाता है। आर्ट वस्तु मनुष्यकी सृष्टि है, वह nature (प्रकृति) नहीं है। संसारमें जो कुछ घटित होता है—और अनेक गन्दी बातें ही घटित होती हैं—वह किसी तरह साहित्यका उपादान नहीं है। प्रकृतिकी या स्वभावकी हू-ब-हू नकल करना फोटोग्राफी हो सकती है, किन्तु वह क्या तसवीर होगी? दैनिक अखवारोंमें अनेक रोमांच उत्पन्न करनेवाली भयानक घटनाएँ छपती हैं, वह क्या साहित्य है? चरित्रकी सृष्टि क्या इतनी सहज है? मुझसे अनेक लोग दया करके कहते हैं कि महाशय, मैं ऐसी घटना जानता हूँ कि वह अगर आपसे कहूँ तो आपकी एक बहुत अच्छी पुस्तक तैयार हो सकती है।

मैं उनसे कहता हूँ—तो फिर आप ही उसे लिखिए न।

वे कहते हैं—ऐसा हो सकता तो फिर चिन्ता ही क्या थी? यही तो हम नहीं कर सकते!

मैं कहता हूँ—आज न लिख सकें तो दो दिन बाद लिख सकेंगे। ऐसी चीज खामखा हाथसे न गँवाइएगा।

ये लोग नहीं जानते कि संसारमें कुछ अद्भुत जानना ही साहित्यिकके लिए बड़ी सामग्री नहीं है। मैं तो जानता हूँ कि किस तरह मेरे 'चरित्र' गढ़ उठते हैं। वास्तव अभिज्ञताकी मैं उपेक्षा नहीं करता; किन्तु वास्तव और अवास्तवके सम्मिश्रणमें कितनी व्यथा, कितनी सहानुभूति, कितना हृदयका रक्त ढालनेसे ये 'चरित्र' धीरे-धीरे बड़े होकर प्रस्फुटित होते हैं, इसे और कोई न जाने, मैं तो जानता हूँ। इसमें सुनीति और दुर्नीतिका स्थान है, किन्तु विवाद करनेकी जगह इसमें नहीं है। यह वस्तु इनसे बहुत ऊँची है। इनको गड़बड़ कर देनेसे जो गोलमाल होता है, उसे काल क्षमा नहीं करता। उससे नीति-पुस्तक होगी, किन्तु साहित्य न होगा। पुण्यकी जय और पापकी क्षय, यह भी होगा, किन्तु काव्यकी सृष्टि न होगी।

मुझे याद है, बचपनमें 'कृष्णकान्तेर विल' (कृष्णकान्तका वसीयतनामा) की रोहिणीके चरित्रसे मेरे हृदयको बड़ा भारी धक्का लगा था। रोहिणी पापकी राहमें उतर गई। उसके बाद पिस्तौलकी गोलीसे मारी गई। बैलगाड़ीपर लादकर उसकी लाशका चालान हुआ। अर्थात् हिन्दुत्वकी ओरसे पापके परिणाममें कुछ बाकी न रहा। अच्छा ही हुआ, हिन्दूसमाज भी पापीके दण्डसे तृप्तिकी साँस छोड़कर बच गया। किन्तु इसका और एक पहलू, जो इन लोगोंसे भी पुरातन और सनातन है—नर-नारीके हृदयका गम्भीरतम, गूढ़तम प्रेम? मुझे आज भी ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख और समवेदनासे बंकिमचन्द्रकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये हैं; जान पड़ता है, जैसे उनका कवि-हृदय उन्हींकी सामाजिक और नैतिक बुद्धिके पैरोंके नीचे सिर पटककर आत्महत्या करके मर रहा है।

अनेक बार मेरे मनमें यह बात आई है कि रोहिणी-चरित्र आरम्भ करते समय उनकी यह कल्पना नहीं थी। होती तो वह इस तरह उसे न गढ़ पाते। कवि केवल प्रेमके लिए ही इस तरह चुपचाप, छिपकर, वारुणीके जलके तले अपने आप आत्मविसर्जन उस पापिष्ठासे कभी न कराते।

रोहिणीने गोविन्दलालको अकृत्रिम और निष्कपट प्यार किया था, सम्पूर्ण हृदयसे प्रेम किया था और इस प्रेमका प्रतिदान उसने न पाया हो, सो भी नहीं है। किन्तु हिन्दूधर्मकी सुनीतिके आदर्शसे वह इस प्रेमकी

अधिकारिणी नहीं, यह प्रेम उसका प्राप्य नहीं है। वह पापिष्ठा है, इसीसे पापिष्ठाओंके लिए निर्दिष्ट नीतिके आईनके अनुसार उसे विश्वासघातिनी होना चाहिए, और हुई भी वह। इसके बादका इतिहास बहुत संक्षिप्त है। चार-पाँच मिनटके दर्शनसे ही निशाकरके प्रति आसक्ति और पिस्तौलकी गोलीसे मृत्यु। उसकी मृत्युके लिए मैं खेद नहीं करता, किन्तु करता हूँ उसकी अकारण अहेतुक जबरदस्तीकी अपमृत्युके लिए। अभागिनीके अस्वाभाविक मरणसे पाठक-पाठिकाओंकी सुशिक्षासे लेकर समाजकी विधि और नीतिका Convention (अनुशासन), सभी बच गया, इसमें संदेह नहीं, किन्तु वह मरी और उसके साथ ही सत्य, सुंदर कला भी मर गई। उपन्यासका चरित्र (पात्र) केवल उपन्यासके आईनसे ही मर सकता है, नीतिके आँख दिखानेसे उसका मरना नहीं चल सकता।

ठीक इन्हीं वजूहातसे श्रीयुत यतीन्द्रमोहन सिंह महाशयने मेरे 'पल्ली-समाज' (ग्रामीण समाज) की विधवा रमाको लक्ष्य करके अपनी 'साहित्यकी स्वास्थ्यरक्षा' पुस्तकमें ताना देते हुए कहा है—"ठकुरानी, तुम बुद्धिमती हो न? तुम बुद्धिके जोरसे अपने पिताकी जमींदारीका शासन-प्रबन्ध कर सकीं, और तुम्हीं अपने बाल्य-सखा पर-पुरुष रमेशको प्यार कर बैठीं? यही तुम्हारी बुद्धि है? छि: !" यह धिक्कार कलाका नहीं है, यह धिक्कार समाजका है, यह धिक्कार नीतिका अनुशासन है। इनका मानदण्ड एक नहीं है, इस अक्षर-अक्षर पंक्ति-पंक्ति एक करनेके प्रयासमें ही सारी भूल, सारे विरोधकी उत्पत्ति है।

श्रीयुत यतीन्द्रबाबूका सामाजिक धिक्कार कलाके राज्यमें कितनी महामारी उपस्थित कर सकता है, इसका एक और दृष्टान्त देता हूँ। मेरे एक परमश्रद्धास्पद बन्धु प्रवीण साहित्यिक हैं। उनकी एक छोटी-सी कहानी है। उसका प्लाट अत्यन्त संक्षेपमें यह है—नायक एक धनी जमींदार है। नायक (Hero) होनेके कारण उसका हृदय प्रशस्त, प्राण उच्च और नैतिक बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है। कलकत्तेमें उसका एक बहुत बड़ा मकान है जो किरायेपर दिया जाता है। मूल्य लगभग लाख रुपया है। एक तारीखको एक आदमीने वह मकान महीने-भरके लिए किरायेपर लिया। घरके मालिक जमींदार पासहीके दूसरे घरमें रहते हैं। अचानक एक दिन रातको उन्होंने उस घरके भीतरसे किसी एक

स्त्रीके रोनेका शब्द सुना। दो-तीन दिन बाद पता लगानेसे जाना गया कि उस घरमें गर्भपात कराया गया है और किरायेदार भाड़ा चुकाये बिना ही भाग गया है। उन लोगोंका पता-ठिकाना जाना नहीं है। पापका दण्ड देना असम्भव है। इसीसे जमींदारने हुक्म दिया कि घरको गिराकर मैदान कर दिया जाय। पाँच-सात दिनके भीतर इतना बड़ा लाखों रुपयेका घर गिराकर मैदान कर दिया गया।

कहानी यहींपर समाप्त हो गई। प्रेसीडेंसी कालेजके एक अँगरेजीके अध्यापक यह कहानी पढ़कर आँखोंमे आँसू भरकर बारम्बार कहने लगे—उन्होंने जीवनमें ऐसी सुन्दर कहानी और नहीं पढ़ी और ऐसी कहानियाँ बंगला-साहित्यमें जितनी अधिक निकलें, उतना ही मंगल है।

ऐसी कहानी मैंने भी अधिक नहीं पढ़ी, यह मैं अस्वीकार नहीं करता और घर जब मेरा नहीं है, अध्यापकका भी नहीं है और ग्रंथकारका भी नहीं है, तब जितना जी चाहे तोड़-फोड़कर मिट्टीमें मिला देनेपर भी मुझे आपत्ति नहीं; किन्तु कला और साहित्यकी जो अधिष्ठात्री देवता हैं; उनके मनमें किस भावका उदय हुआ, यह केवल वही जानती है।

अच्छा और बुरा संसारमें चिरकालसे चला आ रहा है। अच्छेको अच्छा और बुरेको बुरा कहनेमें कला कभी आपत्ति नहीं करती। किन्तु दुनियामें जो कुछ सत्य ही घटित होता है उसीको बिना विचारे आँख मूँदकर साहित्यका उपकरण बनानेसे वह सत्य तो हो सकता है, पर सत्य-साहित्य नहीं होता।

अर्थात् जो कुछ घटित होता है, उसकी अविकल तसवीरको भी मैं जैसे साहित्य-वस्तु नहीं कहता, वैसे ही मेरा मत यह भी है कि जो घटित नहीं होता, अथ च समाज या प्रचलित नीतिकी दृष्टिमें जिसका घटित होना अच्छा है, कल्पनाके द्वारा उसकी उच्छृंखल गतिसे भी साहित्यकी बहुत अधिक विडम्बना होती है।

मुझे अवसर थोड़ा है, अपने वक्तव्यको मैं अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर पाया—यह मैं जानता हूँ। किन्तु आधुनिक साहित्य-रचनाके सम्बन्धमें समाजके एक श्रेणीके शुभचिन्तकोंके मनमें किस जगह अत्यन्त क्षोभ और क्रोधका उदय हुआ है, विरोधका आरम्भ कहाँपर है—इस ओर उँगलीसे

दिखानेका काम, मै समझता हूँ, सम्पूर्ण हो गया है। किन्तु आलोचनाको घोरतर बना डालनेकी मेरी प्रवृत्ति नही है, समय नहीं है, शक्ति भी नहीं है; केवल, अशेष-श्रद्धा-भाजन हम लोगोंके पूर्ववर्ती साहित्याचार्योंके चरणचिह्नोपर चलनेके मार्गमें कहाँपर बाधा पाकर हम लोग अन्य मार्गपर चलनेके लिए बाध्य हुए है, इसका आभासमात्र आप लोगोंके आगे मैंने सविनय निवेदन कर दिया है।

अन्तमें, जो गौरव आज मुझे आप लोगोंने दिया है, उसके लिए और एक बार आन्तरिक धन्यवाद जताकर इस क्षुद्र और अक्षम प्रबन्धको मैं समाप्त करता हूँ।[1]

साहित्यमें आर्ट और दुर्नीति

मै जानता हूँ, साहित्य-शाखाका सभापति होनेके योग्य मैं नही हूँ, और मुझ जैसे ही जो बूढ़े है, मेरी ही तरह जिनके सिरके बाल और बुद्धि, दोनों ही पककर सफेद हो गये हैं, उनको भी इस विषयमें लेशमात्र संशय नहीं है। किसीके मनमें व्यथा पहुँचानेकी मेरी इच्छा न थी, तो भी जो इस पदको ग्रहण करनेके लिए मै राजी हो गया, इसका एकमात्र कारण यह है कि अपनी अयोग्यता और भक्तिभाजन लोगोंके मनकी पीड़ा, इतनी बड़ी-बड़ी दो बातोंको दबाकर भी उस समय बारम्बार यही बात मेरे मनमे उठी कि इस अप्रत्याशित चुनावके द्वारा आज नया दल विजयी हुआ है। उनकी सब्ज पताकाका आह्वान मुझे मानना ही होगा, उसका फल चाहे जो हो। और मै यह प्रार्थना भी सारे अन्तःकरणसे करता हूँ कि आजसे उनकी यात्राका मार्ग उत्तरोत्तर सुगम और सफलतासे मण्डित हो।

१. बँगला सन् १३२१ के १० आश्विनको बंगीय साहित्य-परिषद्‌की नदिया-शाखाके वार्षिक अधिवेशनके समय दिया हुआ सभापतिका अभिभाषण।

सोलह साल पहले जब बँगलाके साहित्यिकोंके वार्षिक सम्मिलनका आयोजन हुआ था, उस समय मैं विदेश (बर्मा) मे था। उसके बहुत दिन बादतक भी मैंने कल्पना नहीं की थी कि एक दिन साहित्य-सेवा ही मेरा पेशा बन जायगी। लगभग दस वर्ष पहले कई तरुण साहित्यिकोंके आग्रह और एकान्त चेष्टाका ही यह फल हुआ कि मै साहित्य-क्षेत्रमे प्रविष्ट हो गया।

बॅगला-साहित्यकी साधनाके इतिहासमे इन दस वर्षोंकी घटना ही मैं जानता हूँ। अतएव इस विषयमे अगर कुछ कहना ही हो, तो केवल इन थोड़ेसे वर्षोंकी बात ही कह सकता हूँ।

कई महीने पहले पूज्यपाद रवीन्द्रनाथने मुझसे कहा था कि अबकी अगर लखनऊके साहित्य-सम्मेलनमे तुम्हारा जाना हो, तो तुम अभिभाषणके बदले एक कहानी लिखकर ले जाना। अभिभाषणके बदले कहानी! मैंने विस्मित होकर कारण पूछा तो उन्होने केवल इतना ही उत्तर दिया कि वह कहीं अच्छा है।

इससे अधिक और कुछ उन्होने नही कहा। इतने दिनोंसे साल ब-साल जो साहित्य-सम्मेलन होता आ रहा है, उसके अभिभाषणोंके प्रति या तो उनका आग्रह नही है और या उनके मनमें यह खयाल था कि मेरा जो काम है, वही मेरे लिए अच्छा है। एक बार सोचा था कि जब लखनऊ जाना ही नहीं हुआ, तब जहाँ जा रहा हूँ, वहीं उनके आदेशका पालन करूँगा। किन्तु अनेक कारणोंसे उस इच्छाको कार्यरूपमें परिणत न कर सका। किन्तु आज इस अत्यन्त अकिञ्चत्कर लेखको पढ़नेके लिए उठकर खड़े होनेपर मुझे केवल यही जान पड़ रहा है कि वही मेरे लिए बहुत अच्छा था। एक साधारण साहित्य-सेवकके लिए इतनी बड़ी सभाके बीच खड़े होकर साहित्यके भले-बुरेका विचार करने जानेके बराबर विडम्बना और नहीं है।

बंग-साहित्यके अनेक विभाग हैं—दर्शन, विज्ञान, इतिहास। इन विभागोंके सभापतियोंका पाण्डित्य असाधारण है, बुद्धि तीक्ष्ण और मार्जित है। उनके निकट आप लोग अनेक नये-नये रहस्योंका पता पावेंगे। किन्तु मैं एक साधारण कहानी-लेखक हूँ। कहानी-उपन्यास लिखनेके सम्बन्धकी ही दो-एक

बातें कह सकता हूँ; किन्तु साहित्यके दरबारमें उनका भला कितना मूल्य है! किन्तु आप लोगोंसे वह उतना मूल्य भी मैं बिना विचार किये देनेको नहीं कहता, किसी दिन नहीं कहा, आज भी नहीं कहूँगा। यह केवल मेरी बिलकुल ही अपनी बात है, जिस बातको मैं अपनी साहित्य-साधनाके दस वर्षोंसे निःसंशय होकर अकुण्ठित चित्तसे पकड़े हुए हूँ।

इन दस वर्षोंसे मैं एक चीज आनन्द और गर्वके साथ लक्ष्य करता आया हूँ कि दिन-पर-दिन इसके पाठकोंकी संख्या निरन्तर बढ़ती चली जा रही है, और वैसे ही अविश्रान्त इस अभियोगका भी अन्त नहीं है कि देशका साहित्य दिनों-दिन नीचे ही गिरता जा रहा है। पहली बात सत्य है और दूसरी अगर सत्य हो तो दुःखकी बात है, भयकी बात है। किन्तु इसे रोकनेका और चाहे जो उपाय हो, केवल कटूक्तियोंके चाबुक मार-मारकर ही साहित्यिकोंसे अपनी पसन्दकी अच्छी-अच्छी पुस्तकें नहीं लिखाई जा सकतीं। मनुष्य कोई बैल या घोड़ा नहीं है। आघातका भय उसे है, यह बात सच है; किन्तु अपमान-बोध नामकी एक और चीज उसमें है, यह बात भी उतनी ही सच है। उसकी कलम बन्द की जा सकती है, किन्तु उससे फर्मायशी किताबें अदा नहीं की जा सकतीं। बुरी किताब अच्छी नहीं है, किन्तु उसे रोकनेके लिए साहित्य-सृष्टिका द्वार ही बन्द कर देना उससे हजारगुना अकल्याणकर है।

किन्तु देशका साहित्य क्या सचमुच नवीन साहित्यिकोंके हाथसे नीचेकी ओर गिरता जा रहा है? यह अगर सत्य हो तो मेरा अपना अपराध भी कम नहीं है। इसीसे आज अत्यन्त संक्षेपमें इसी बातकी आलोचना करना चाहता हूँ। यह केवल आलोचनाके लिए ही आलोचना नहीं है। अन्तिम कई वर्षोंकी प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची देखकर मुझे जान पड़ता है, जैसे साहित्य-सृष्टिका झरना धीरे-धीरे अवरुद्ध होता आ रहा है। संसारमें कूड़ा पुस्तकें ही केवल कूड़ा नहीं हैं, आलोचनाके बहाने दायित्वहीन कटूक्तियोंके कूड़ेसे भी वाणीका मन्दिर एकदम समाच्छन्न हो जा सकता है।

बंकिमचन्द्र और उनके चारों ओरकी साहित्यिक मण्डलीने एक दिन बंगालके साहित्याकाशको जगमगा रक्खा था। किन्तु मनुष्य चिरजीवी या अमर नहीं

है। वे लोग अपना काम पूरा करके स्वर्गीय हो गये। उनके दिखलाये मार्ग और उनकी निर्दिष्ट धाराके साथ नवीन साहित्यिकोंका मेल नहीं खाता—भाषामे, भावमे और आदर्शमे—यहॉतक कि प्रायः सभी विषयोमे। पर यह अधःपतन या गिरावट है या नहीं, यह बात सोचकर देखनेकी है।

'कलाके लिए ही कला,' यह बात पहले मैंने कभी नहीं कही, आज भी नहीं कहता। इसका यथार्थ तात्पर्य आज भी मै समझ नहीं सका। यह उपलब्धिकी वस्तु है, कविके अन्तरका धन है।

संज्ञा-निर्देश करके दूसरेको इसका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। किन्तु साहित्यका एक और पहलू है, वह बुद्धि और विचारकी वस्तु है। वह युक्तिके द्वारा औरोको समझाया जा सकता है। मै आज यही पहलू विशेष करके आप लोगोके सामने खोलना चाहता हूँ। विष्णुशर्माके समयसे लेकर आजतक हम लोग कहानीके भीतरसे कोई-न-कोई शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रायः हमारा संस्कार बन गया है। इसमे कोई त्रुटि होनेपर हम बर्दाश्त नही कर सकते। स-क्रोध अभियोगकी बाढ़ जब उमड़ती है, तब इधरके बॉधको तोड़कर ही हुंकारके साथ वह वेगसे दौड़ती है। प्रश्न होता है—क्या पाया, कितनी और कौन शिक्षा मुझे मिली। इस लाभालाभके पहलूपर ही मैं सबसे पहले दृष्टि डालना चाहता हूँ।

मनुष्य अपने संस्कारों और भावोंको लेकर ही तो मनुष्य है; और इन संस्कारों और भावोको लेकर ही प्रधान रूपसे नवीन साहित्यिकोके साथ प्राचीनपंथियोका संघर्ष छिड़ गया है। संस्कारों और भावोंके विरुद्ध सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं की जा सकती, इसीलिए निन्दा और कटूक्तिका सूत्रपात भी इसी जगह होता है। एक दृष्टान्त देकर इस बातको साफ कर दूँ। हिन्दूका यह अस्थिमज्जागत संस्कार है कि विधवा-विवाह करना बुरा है। कहानी या उपन्यासके भीतर विधवा नायिकाका पुनर्विवाह करके किसी साहित्यिकके बूतेकी बात नहीं कि वह निष्ठावान् हिन्दूकी दृष्टिमें सौन्दर्यकी सृष्टि कर सके। पढ़ते ही निष्ठावान् हिन्दूका मन तीखा और विषाक्त हो उठेगा। ग्रन्थके और सब गुण उसके निकट व्यर्थ हो जायेंगे। स्वर्गीय ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर महाशयने जब गवर्नमेंटकी सहायतासे विधवा-विवाहको

वैध ठहरानेका कानून पास कराया, तब उन्होंने केवल शास्त्रीय विचार ही किया था, हिन्दुओंके मनका विचार नहीं। इसीसे आईन अवश्य पास हुआ, किन्तु हिन्दू-समाज उसे ग्रहण नहीं कर सका। उनकी इतनी बड़ी चेष्टा निष्फल हो गई। निन्दा, ग्लानि, निर्यातन उन्हे बहुत सहना पड़ा, किन्तु उन दिनो किसी साहित्य-सेवीने उनका पक्ष ग्रहण नहीं किया। शायद इस अभिनव भावके साथ सचमुच ही उन लोगोंकी सहानुभूति नहीं थी, शायद उनको समाजमे अपने अप्रिय होने-का भी अत्यन्त भय था। चाहे जिस कारणसे हो, उस दिन वह भावधारा वहीं रुक गई—समाज-शरीरके स्तर-स्तरमें, गृहस्थके अन्तःपुरमे संचारित नहीं हो सकी। किन्तु यदि ऐसा न होता, वे ऐसे उदासीन या तटस्थ न रहते, तो यह सच है कि उन्हे निन्दा, ग्लानि, निर्यातन, सब-कुछ सहना पड़ता, किन्तु आज शायद हम हिन्दू सामाजिक व्यवस्थाका दूसरा ही चेहरा देख पाते। उस दिनके हिन्दूकी दृष्टिमे जो सौन्दर्य-सृष्टि कदर्य, निष्ठुर और मिथ्या प्रतीत होती थी, आज आधी शतीके बाद उसीके रूपसे शायद हमारे नयन शीतल और मन मुग्ध हो जाता। ऐसा ही तो होता है, साहित्य-साधनामे नवीन साहित्यिकके लिए यही तो सबसे बड़ी सान्त्वना है। वह जानता है कि आजकी लाछना ही उसके जीवनका एकमात्र सत्य और सब-कुछ नहीं है, अनागत भविष्यमे उसका भी दिन आवेगा—वह भले ही सौ वर्ष बाद हो, किन्तु उस दिनके व्याकुल, व्यथित नर-नारी सैकडों-लाखों हाथ बढ़ाकर आजकी दी हुई उसकी सारी कालिखको पोछ देंगे। शास्त्र-वाक्यकी अप्रतिष्ठा या अपमान करना मेरा उद्देश्य नहीं है, प्रचलित सामाजिक विधि-निषेधकी समालोचना करनेके लिए भी मै खड़ा नहीं हुआ। मैं केवल यही बात स्मरण करा देना चाहता हूँ कि करोड़ो वर्षकी पुरानी पृथ्वी आज वैसे ही वेगसे दौड़ती चली जा रही है; नर-नारियोंके यात्रा-पथकी सीमा आज भी वैसे ही बहुत दूर है। उसकी शेष परिणतिकी मूर्ति वैसी ही अनिश्चित, वैसी ही अज्ञात है। क्या केवल उसके कर्तव्य और चितनकी धारा ही चिरकालके लिए समाप्त हो गई? विचित्र और नई-नई अवस्थाओंके बीच होकर उसे दिन-रात जाना होगा—उसके कितने प्रकारके सुख, कितने प्रकारकी आशा-आकाक्षाएँ है—रुकनेका उपाय नहीं है, चलना ही होगा। क्या केवल अपने चलनेके ऊपर ही उसका कोई कर्तृत्व न रहेगा? किसी सुदूर अतीतमे उसे उस

अधिकारसे हमेशाके लिए वंचित कर दिया गया है। जो लोग गुजर गये हैं, जो सुख-दुःखके बाहर हो गये है, जो इस दुनियाका देना-पावना चुकाकर परलोकको चले गये है, उनकी इच्छा, उनके विचार, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गका संकेत ही क्या इतना वड़ा है? और जो जीवित हैं, जिनका हृदय व्यथा और वेदनासे जर्जर है, उनकी आशा, उनकी कामना क्या कुछ नहीं है? मृतकी इच्छा ही क्या सदैव जीवितकी राह रोके रहेगी? तरुण साहित्य तो केवल यही बात कहना चाहता है। उनके विचार और भाव आज असगत, यहॉतक कि, अन्याय भी लग सकते हैं; किन्तु वे न कहेगे तो और कौन कहेगा? मनुष्यकी सुगभीर वासना, नर-नारीकी निगूढ़ वेदनाका विवरण वह न प्रकट करेगा तो कौन करेगा? मनुष्यको मनुष्य कहॉसे पहचानेगा? वह जिन्दा कैसे रहेगा?

आज वह विद्रोही जान पड़ता है, प्रतिष्ठित विधि-व्यवस्थाके पास शायद उसकी रचना अद्भुत दिखाई देगी, किन्तु साहित्य तो खबरोंका कागज नहीं है। वर्तमानकी दीवार खड़ी करके तो उसकी चौहद्दी सीमामें नहीं बॉधी जा सकती। गति उसकी भविष्यके बीचमें है। आज जो ऑखोंसे देखा नहीं जाता, जो आज भी आकर नहीं पहुँचा, उसीके निकट उसका पुरस्कार है, उसीके पास उसकी सवर्द्धनाका आसन बिछा हुआ है।

लेकिन इसीलिए हम समाज-संस्कारक नहीं हैं। यह भार साहित्यिकके ऊपर नहीं है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए अगर मैं अपना उल्लेख करूँ तो उसे आप बेअदबी समझकर मुझे अपराधी न ठहरावे। पल्ली-समाज (ग्रामीण समाज) नामकी मेरी छोटी-सी पुस्तक है। उसकी विधवा रमाने अपने बाल्यबन्धु रमेशको प्यार किया था, इसके लिए मुझे बहुत झिड़कियॉ और तिरस्कार सहना पड़ा है। एक विशिष्ट समालोचकने ऐसा अभियोग भी किया था कि इतनी दुर्नीतिको प्रश्रय देनेसे गॉवमें फिर कोई विधवा नहीं रहेगी। मरने-जीनेकी बात कही नहीं जा सकती, प्रत्येक पतिके लिए यह गहरी दुश्चिन्ताका विषय है, किन्तु इसका एक और पहलू भी तो है। इसको प्रश्रय देनेसे भला होगा या बुरा, हिन्दूसमाज स्वर्गमें जायगा या रसातलमें, इस मीमासाका भार मेरे ऊपर नहीं है। रमा जैसी नारी और रमेश जैसे पुरुष किसी भी कालमें,

किसी भी समाजमें दल-के-दल नहीं जनमते। दोनोंके सम्मिलित पवित्र जीवनकी महिमाकी कल्पना करना कठिन नहीं है। किन्तु हिन्दू-समाजमें इस समाधानके लिए जगह न थी। उसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े दो महाप्राण नर-नारी इस जीवनमें विफल, व्यर्थ, पगु हो गये। मनुष्यके बन्द हृदय-द्वारतक वेदनाकी यह खबर अगरमें पहुँचा सका होऊँ, तो इससे अधिक और कुछ मुझे नहीं करना है। इस लाभ-हानिको खतियाकर देखनेका भार समाजका है, साहित्यिकका नहीं। रमाके व्यर्थ जीवनकी तरह यह रचना वर्तमानमें व्यर्थ हो सकती है, किन्तु भविष्यत्की विचारशालामें निर्दोषके लिए इतनी बड़ी सजाका भोग एक दिन किसी तरह मंजूर न होगा, यह बात मैं निश्चयके साथ जानता हूँ। यह विश्वास यदि न होता तो साहित्य-सेवीकी कलम उसी दिन वहीं संन्यास ले लेती।

पहलेके दिनोंमें बगला-साहित्यके विरुद्ध और चाहे जो शिकायत रही हो, किन्तु दुर्नीतिकी शिकायत नहीं थी। जान पड़ता है, वह तब भी खयालमें नहीं आई थी। यह अभी हालमें आई है। वे लोग कहते हैं, आधुनिक साहित्यका सबसे बड़ा अपराध यह है कि उसके नर-नारियोंके प्रेमका विवरण अधिकांशमें ही दुर्नीतिमूलक है और उसमें प्रेमकी ही भरमार है। अर्थात् अनेक पहलुओंसे यही चीज जैसे मूलरूपसे ग्रथकी प्रतिपाद्य वस्तु हो उठी है।

कहनेवाले बिलकुल ही झूठ नहीं कहते। किन्तु उसके दो-एक छोटे-मोटे कारण रहनेपर भी मूल कारण ही मैं आप लोगोंके आगे खुलासा करना चाहता हूँ। समाज वस्तुको मैं मानता हूँ; किन्तु उसे देवताके रूपमें नहीं मानता। बहुत दिनोंसे ढेरके ढेर जमा हुए नर-नारियोंके बहुतसे मिथ्या, बहुतसे कुसस्कार, बहुतसे उपद्रव इसमें एक होकर मिल गये हैं। मनुष्यके खाने-पहनने और रहन-सहनके बारेमें इसका शासन-दण्ड अति सतर्क नहीं है—किन्तु इसकी एकान्त निर्दय मूर्ति दिखाई देती है केवल नर-नारियोंके प्रेमके अवसर-पर। मनुष्यको सबसे अधिक सामाजिक उत्पीड़न इसी जगह सहना पड़ता है। मनुष्य इससे डरता है, इसकी वश्यता सम्पूर्ण रूपसे स्वीकार करता है। बहुत दिनोंकी यह ढेर हुई भयकी समष्टि ही अन्तमें विधिबद्ध आईन बन जाती है। समाज इससे किसीको छुटकारा नहीं देना चाहता। मर्दोंके लिए

उतनी मुश्किल नहीं है। मर्दके लिए चकमा देनेका रास्ता खुला है, लेकिन जिसे कहीं कभी किसी तरह छुटकारेका मार्ग नहीं, वह है केवल नारी। इसीसे सतीत्वकी महिमाका प्रचार ही विशुद्ध साहित्य हो उठा है। किन्तु इस प्रोपेगण्डाको ही अगर नवीन साहित्यिक अपनी साहित्य-साधनाका सर्वप्रधान कर्तव्य मानकर ग्रहण न कर सके, तो उसकी निन्दा नहीं की जा सकती; किन्तु कैफियतके भीतर भी उसके यथार्थ चिन्तनकी वहुत-सी चीजे छिपी हुई है, यह सत्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

एकनिष्ठ प्रेमकी मर्यादाको नवीन साहित्यिक समझता है, इसके प्रति उसके मनमें सम्मान और श्रद्धाकी सीमा नहीं है; किन्तु वह जिस चीजको वर्दाश्त नहीं कर सकता, वह है चकमा और ढोंग। उसे जान पड़ता है कि इस ढोंगकी दरारसे ही भविष्यके वंशधर जिस असत्यको अपनी आत्मामे संक्रामित करके जन्म-ग्रहण करते है, वही उनको जीवन-भरके लिए कायर, कपटी, निष्ठुर और मिथ्याचारी वना डालता है। सुविधा और प्रयोजनके अनुरोधसे संसारमे अनेक मिथ्याओंको ही शायद सत्य कहकर चलना होता है, किन्तु इन्ही कारणोसे जातिके साहित्यको भी कलुषित कर डालनेके वरावर पाप थोड़े ही है। सामयिक प्रयोजन कुछ भी हो, उस तंग दायरेसे साहित्यको छुटकारा देना ही होगा। साहित्य जातीय ऐश्वर्य है, ऐश्वर्य प्रजोजनके अतिरिक्त होता है। वर्तमानके दैनन्दिन प्रयोजनसे उसे (रुपयेकी तरह) भुना कर खाया नहीं जा सकता, यह वात किसी तरह नही भूलनी चाहिए।

परिपूर्ण मनुष्यत्व सतीत्वकी अपेक्षा बड़ा है—यह वात एक दिन मैंने कही थी। मेरी इस उक्तिको निहायत गंदा रूप देकर मेरे विरुद्ध वेहद गाली-गलौज किया गया। लोग जैसे एकाएक पागल हो उठे। मैंने अत्यन्त सती नारीको चोरी करते, जुआ खेलते, जाल करते और झूठी गवाही देते देखा है, और ठीक इससे उलटा देखना भी मुझे नसीव हुआ है। इस सत्यको नीतिकी पुस्तकमें स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु वूढ़े लड़के-लड़कियोंको कहानीके मिस यही नीतिकी वाते सिखानेका भार साहित्यकारको अपने ऊपर लेना पड़े, तो मैं कहता हूँ कि साहित्यका न रहना ही अच्छा। सतीत्वकी धारणा सदा एक नहीं रही। पहले भी नहीं थी और वादको भी शायद एक दिन नहीं

रहेगी। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नहीं है, यह बात साहित्यके भीतर भी अगर स्थान न पावे, तो फिर यह सत्य कहाँ जीवित रहेगा?

साहित्यकी सुशिक्षा, नीति और लाभालाभका अंश ही अबतक मैं व्यक्त करता आया हूँ। जो चीज इससे भी बड़ी है—इसका आनन्द, इसका सौन्दर्य—उसकी आलोचना करनेका समय अनेक कारणोंसे मुझे नहीं मिला। केवल एक बात कह रखना चाहता हूँ कि आनन्द और सौन्दर्य केवल बाहरकी वस्तु नहीं है। केवल सृष्टि करनेकी त्रुटि ही है, उसे ग्रहण करनेकी अक्षमता नहीं—यह बात किसी तरह सच नहीं है। आज यह शायद असुन्दर और आनन्दहीन जान पड़े, किन्तु यही इसकी आखिरी बात नहीं है, आधुनिक साहित्यके सम्बन्धमें यह सत्य याद रखनेकी जरूरत है।

और एक बात कहकर ही मैं अपने वक्तव्यको समाप्त करूँगा। अँगरेजीमें Idealistic (आदर्शवादी) और Realistic (यथार्थवादी) दो शब्द हैं। हालमें किसी-किसीने यह अभियोग उपस्थित किया है कि आधुनिक बंगला-साहित्य अतिमात्रामें यथार्थवादी हो चला है। मैं कहता हूँ, एकको बाद देकर दूसरा नहीं होता। कमसे कम जिसे उपन्यास कहते हैं, वह नहीं होता। हाँ, कौन किधर कितना झुककर चलेगा, यह साहित्यिक शक्ति और रुचिपर निर्भर करता है। किन्तु एक शिकायत यह की जा सकती है कि पहलेकी तरह राजे-रजवाड़ों और जमींदारोंके दुःख-दैन्य-द्वन्द्व-हीन जीवनके इतिहासको लेकर आधुनिक साहित्य-सेवीको सन्तोष नहीं होता—उसका मन नहीं भरता! वह नीचेके स्तरमें उतर गया है। यह अफसोसकी बात नहीं है। बल्कि इस अभिशप्त, और तमाम दुःखोंके देशमें, अपने अभिमानको छोड़कर रूसी साहित्यकी तरह जिस दिन वह और भी समाजके नीचेके स्तरमें उतरकर उनके दुःख और वेदनाके बीच खड़ा हो सकेगा, उस दिन यह साहित्य-साधना केवल स्वदेशमें ही नहीं, विश्वसाहित्यमें भी अपना स्थान कर ले सकेगी।

किन्तु बस, और नहीं। आप लोगोंका बहुत-सा समय मैंने ले लिया। बैठनेके पहले और एक बात आप लोगोंको बतानेकी है। बंगालके इतिहासमें यह विक्रमपुर विराट् गौरवका अधिकारी है। विक्रमपुर पंडितोंका स्थान है, वीरोंकी क्रीड़ाभूमि है, सज्जनोंकी जन्मभूमि है। मेरे परम श्रद्धास्पद चित्तरंजनदास इसी

देशके मनुष्य हैं। मुशींगंजमें आप लोगोने मेरा जो सम्मान किया है, उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। आप लोग मेरा कृतज्ञतायुक्त नमस्कार ग्रहण करें।'

रवीन्द्रनाथ

कविके जीवनके सत्तर वर्ष पूरे हुए, उनकी आयु सत्तर वर्षकी हो गई। विधाताके आशीर्वादने केवल हम लोगोंको ही नहीं, समग्र मानव-जातिको धन्य किया। सौभाग्यकी इस स्मृतिको मधुर और उज्ज्वल करके हम लोग आनेवाले समयके लिए रख जाना चाहते हैं और उसीके साथ अपना भी यह परिचय आनेवाली पीढ़ियोको दे जायेगे कि कविके केवल काव्यसे ही हमारा परिचय नहीं रहा, हमने उनको ऑखोसे देखा है, उनकी बातें कानोसे सुनी हैं, उनके आसनको चारो ओरसे घेरकर बैठनेका सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ है।

उसी अनुष्ठानका एक अंग—आजकी यह साहित्य-सभा है। साहित्यके सम्मिलन और भी अनेक होगे, आयोजन-प्रयोजनमें उनका गौरव भी कम न होगा। किन्तु आजके दिनकी असाधारणता वे न पावेंगे। यह तो साधारणका नही, एक विशेष दिनका है। इसीसे इसका दर्जा स्वतन्त्र है।

साहित्यके दरबारमें सभापतिका काम करनेके और भी निमन्त्रण मुझे मिले हैं। उन बुलावोकी उपेक्षा मैं नहीं कर सका। अपनी अयोग्यता स्मरण करके भी सकोचके साथ अपना कर्तव्य समाप्त कर आया हूँ। किन्तु इस सभामें केवल संकोच ही नहीं, लज्जाका भी अनुभव कर रहा हूँ। इसमें मुझे तनिक भी सशय नहीं कि यह गौरव मेरा प्राप्य नहीं है। यह मेरा प्रचलित बनावटी विनय-प्रदर्शन नहीं है। यह मेरा निष्कपट सत्य कथन है।

तो भी मैंने इस आमन्त्रणको अस्वीकार नहीं किया। क्यों नहीं किया, यही यहाँ व्यक्त कर देना चाहता हूँ।

---

१. बंगला सन् १३३७ के चैत्र मासमें मुशीगंज—साहित्य-सभाके सभापति-पदसे दिया हुआ भाषण।

मे जानता हूँ, वितर्कका यह स्थान नहीं है। साहित्यके भले बुरेके विचार और उसके जाति-कुल-निर्णयकी समस्याके लिए यह सभा नहीं बुलाई गई। इन बातोंका प्रयोजन यथास्थान होगा। हम यहाँ वयोवृद्ध कविको श्रद्धाका अर्घ्य देनेके लिए, उनसे सहज भावसे यह कहनेके लिए एकत्र हुए हैं कि हे कवि, तुमने बहुत-कुछ दिया है, इस लम्बे समयमें हमने तुमसे बहुत-कुछ पाया है। सुन्दर, सबल, सर्वसिद्धिदायिनी भाषा तुमने दी है, विचित्र छन्दोंमें बँधा काव्य दिया है, अनुरूप साहित्य दिया है, जगत्को बंगला भाषा और भाव-सम्पद्का श्रेष्ठ परिचय दिया है, और सबसे बड़ा दान तुम्हारा यह है कि तुमने हमारे मनको बड़ा बना दिया है। तुम्हारी सृष्टिका सूक्ष्म विचार करना मेरे बूतेके बाहर है—यह मेरे धर्मके विरुद्ध है। जो लोग प्रज्ञावान् हैं, वे यथा-समय यह विचार करेंगे. किन्तु तुमसे मैंने स्वयं क्या पाया है, इसी बातको संक्षिप्त करके कहनेके लिए यह निमन्त्रण स्वीकार किया है।

भाषाकी कारीगरी या कारुकार्य मेरे पास नहीं है। उसके लिए जितनी विद्या और शिक्षाकी जरूरत है, वह मैंने नहीं पाई। इसीसे अपने मनके भाव प्रचलित सहज शब्दोंमें कहनेका ही मुझे अभ्यास है और इसी तरह मैंने अपनी बात कहनी चाही थी; किन्तु मेरे किसी बुरे ग्रहने आकर उसमें विघ्न डाल दिया। एक तो मैं यों ही आलसी प्रसिद्ध हूँ, उसपर वात-पित्त-कफ आदि आयुर्वेदोक्त ज्वरोंके दलने एक साथ कुपित होकर मुझे शय्याशायी कर दिया। ऐसा भरोसा न था कि चारपाईसे हिल सकूँगा। किन्तु एक मुसीबत यह है कि हमेशासे देखता आ रहा हूँ, मेरी बीमारीकी बातपर कोई विश्वास नहीं करता, जैसे मुझे रोग होना ही न चाहिए। कल्पनासे मैंने स्पष्ट देख पाया कि सभी गर्दन हिलाकर स्मित हास्यसे कह रहे हैं—वह न आवेंगे तो? यह हम जानते थे। इन्हीं वाक्य-बाणोंके भयसे ही मैं किसी तरह यहाँ आकर उपस्थित हुआ हूँ। इस समय देखता हूँ, मैंने अच्छा ही किया। यह न आ सकनेका दुःख जीवनभर न मिटता। किन्तु जो लिख लानेकी इच्छा थी, वह न लिख पाया। एक कारण पहले ही बता चुका हूँ। लेकिन उससे भी बड़ी दूसरी कैफियत है। मनुष्यको पानेकी बात ही थोड़ी-बहुत याद रहती है, इसीसे लिखने जब बैठा तो देखा, कविसे क्या पाया, इसका हिसाब देनेकी चेष्टा वृथा है। दफावार फर्द नहीं मिलती।

बचपनकी बात याद है। छोटेसे गॉवई-गॉवमे मछली पकड़ने, डोंगी ठेलने और नाव चलानेमे ही दिन बीते। वैचित्र्यके लोभसे बीच-बीचमें यात्रादलमें[1] शागिर्दी भी की। उसका आनन्द और आराम जब परिपूर्ण हो उठा, तब कन्धेपर ॲगोछा डालकर निरुद्देश्य यात्राके लिए निकल पड़ा। ठीक विश्वकविके काव्य जैसी निरुद्देश्य यात्रा नहीं, उससे कुछ अलहदा। उसके समाप्त होनेपर फिर एक दिन क्षतविक्षत पैर और निर्जीव शिथिल देह लिये घर लौट आया। आदर-अभ्यर्थनाके समाप्त होनेपर अभिभावकोने फिर स्कूलमे चालान कर दिया। वहॉ फिर एक बार संवर्द्धना पानेके बाद पुनः 'बोधोदय' और 'पद्यपाठ' पढ़नेमें मन लगाया। फिर एक बार प्रतिज्ञा भूल गया, फिर दुष्ट सरस्वती कन्धेपर चढ बैठी, फिर शागिर्दी शुरू की, फिर निरुद्देश यात्रा शुरू हुई। फिर लौटकर घर आया, फिर वैसी-ही खातिर और पूजा की गई। इसी तरह बोधोदय, पद्यपाठ और बगाली जीवनका एक अध्याय समाप्त हुआ। अब शहरमें आया। एकमात्र बोधोदयकी नजीरसे गुरुजनोने छात्रवृत्ति-क्लासमे भर्ती कर दिया। उसकी पाठ्य पुस्तकें थीं—सीता वनवास, चारुपाठ, सद्भावशतक और एक बहुत मोटी व्याकरणकी पोथी। यह केवल पढ़े जाना न था, मासिक और साप्ताहिक पत्रोंमे समालोचना लिखना न था, यह पण्डितजीके पास आमने-सामने खड़े होकर प्रतिदिन परीक्षा देना था। अतएव सकोचके साथ कहा जा सकता है कि साहित्यके साथ मेरा प्रथम परिचय ऑखोंके जलके साथ हुआ। उसके बाद बड़े दुःख सहकर एक दिन वह मियाद भी समाप्त हुई। उस समय खयाल भी न था कि मनुष्यको दुःख देनेके सिवा साहित्यका और कोई उद्देश्य है।

जिस परिवारमे मैं पला, उसमें काव्य और उपन्यास दुर्नीतिके ही दूसरे नाम थे और संगीत अस्पृश्य था। उसमे सभी लोग पास करना और वकील बनना चाहते थे। इसीके बीच मेरे दिन बीतते रहे। किन्तु एकाएक एक दिन इसमें भी उलट-पुलट हो गया। मेरे एक आत्मीय उन दिनो विदेशमें थे। वह घर आये। उन्हे संगीतसे अनुराग और काव्यसे प्रेम था। घरमे एक

१. उत्तरभारतकी रासमंडली या नौटंकी-दलके समान बगालमे यात्रा-दल होते हैं। ये खुलेमें अभिनय और गाना-बजाना करते है।

दिन औरतोंको जमा करके उन्होंने रवीन्द्रनाथका 'प्रकृतिका प्रतिशोध' पढ़कर सुनाया। मालूम नहीं, किसने कितना समझा, किन्तु जो पढ़ रहे थे, उनके साथ मेरी भी आँखोंमें आँसू आ गये। किन्तु कहीं पीछे दुर्बलता न प्रकट हो जाय, इस लज्जासे मैं चटपट बाहर चला आया। किन्तु काव्यके साथ दुबारा परिचय हुआ और खूब याद आता है कि अबकी मैंने उसका प्रथम सत्य परिचय पाया। इसके बाद इस परिवारका वकील बननेका कठोर नियम-संयम मेरी प्रकृतिको बर्दाश्त न हुआ—मुझे फिर अपने उसी पुराने गाँवके घरको लौटना पड़ा। किन्तु अबकी 'बोधोदय' नहीं, पिताजीकी टूटी मेजकी दराजसे ढूँढ़कर बाहर निकाली 'हरिदासकी गुप्त कथा'। दूसरी पुस्तक निकली 'भवानी पाठक'। गुरुजनोंको दोष नहीं दे सकता, ये स्कूल-पाठ्य-पुस्तकें नहीं, बद लड़कोंकी अपाठ्य पुस्तकें थीं। इसीसे इनके पढ़नेकी जगह करनी पड़ी अपने घरकी गोशालामें। वहाँ मैं पढ़ता था और वे सुनते थे। अब पढ़ता नहीं हूँ, लिखता हूँ। उन पुस्तकोंको कौन पढ़ता है, नहीं जानता। मास्टर महाशयने स्नेहवश इतना-सा इशारा दिया कि एक ही स्कूलमें बहुत पढ़नेसे विद्या नहीं आती। अतएव मुझे फिर शहरको लौटना पड़ा। कह देना अच्छा है कि इसके बाद फिर स्कूल बदलनेकी जरूरत नहीं हुई। अबकी मुझे 'बंकिम-ग्रन्थावली' की खबर मिली। उपन्यास-साहित्यमें इसके बाद भी कुछ है, यह मैं उस समय सोच भी न पाता था। पढ़-पढ़कर ग्रन्थावली जैसे बरजबान हो गई। जान पड़ता है, मुझमें यह एक दोष है। यह बात नहीं कि मैंने अन्ध अनुकरणकी चेष्टा नहीं की। लिखनेकी दृष्टिसे वैसा लिखना यद्यपि बिल्कुल व्यर्थ हुआ है, किन्तु चेष्टाकी दृष्टिसे उस सञ्चयको मैं आज भी अनुभव करता हूँ।

इसके बाद आया 'बंगदर्शन'के नवीन संस्करणका युग। उसमें उन दिनों रवीन्द्रनाथकी 'चोखेर बाली' (आँखकी किरकिरी) धारावाहिक रूपसे प्रकाशित हो रही थी। उसमें भाषा और भाव-प्रकाशनकी शैलीका एक नया प्रकाश देख पड़ा। उस दिनकी वह गहरी और सुतीक्ष्ण आनन्दकी स्मृति मैं कभी न भूलूँगा। कोई कुछ इस तरह कहा जा सकता है, दूसरेकी कल्पनाके चित्रमें पाठक अपने मनको इस तरह आँखोंसे देखना चाहता है, यह बात इससे पहले कभी सपनेमें भी नहीं सोची थी। इतने दिनोंमें केवल साहित्यका नहीं, अपना

भी जैसे एक परिचय पाया। बहुत पढ़नेसे ही बहुत पाया जाता है—यह बात सत्य नहीं है। वह थोड़े-से ही पन्ने तो हैं, उन्हींके बीचमे जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पत्ति उस दिन हम लोगोंके हाथमे पहुँचा दी, उनके प्रति कृतज्ञता जतानेकी भाषा कहाँ मिलेगी ?

इसके बाद ही साहित्यके साथ मेरा सम्बन्ध छूट गया। मैं भूल ही गया कि जीवनमे एक लाइन भी मैंने किसी दिन लिखी है। बहुत-सा समय प्रवासमें बीता। इस बीचमे कविको केन्द्र करके किस तरह नवीन बंगला-साहित्य तेजीके साथ समृद्धिसे भर उठा, उसकी कोई खबर मुझे नहीं है। कविके साथ किसी दिन भी मुझे घनिष्ठ होनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; उनके पास बैठकर साहित्यकी शिक्षा प्राप्त करनेका सुयोग भी नहीं मिला। मैं एकदम ही बिछुड़ा रहा। यह है बाहरका सत्य, किन्तु भीतरकी बात इससे बिलकुल उलटी है। उस विदेशमे मेरे साथ कविकी कुछ पुस्तकें थीं—काव्य और कथा-साहित्य, और मनके भीतर परम श्रद्धा और विश्वास। तब घूम-फिरकर इन कई एक पुस्तकोंको ही मैं बारबार पढ़ता था। क्या उनका छन्द है, कितने अक्षर हैं, आर्ट किसे कहते हैं, उसकी संज्ञा क्या है, वजन मिलानेमें कहीं कोई त्रुटि हुई है या नहीं, ये सब बड़ी बातें सोची भी नहीं। यह सब मेरे लिए फिजूल था। केवल सुदृढ़ विश्वासके आकारमे मनके भीतर यह भाव था कि इससे बढ़कर परिपूर्ण सृष्टि और हो ही नहीं सकती। क्या काव्यमें और क्या कथा-साहित्यमे यही मेरी पूँजी थी।

एक दिन अप्रत्याशित भावसे अचानक जब साहित्यसेवाकी पुकार हुई तब यौवनका दावा समाप्त करके प्रौढ़त्वके इलाकेमें मैं पैर रख चुका था। देह थकी हुई थी, उम्रम सीमामें बँध गया था, सीखनेकी अवस्था पार हो गई थी। रहता था प्रवासमें, सबसे अलग, सबसे अपरिचित। किन्तु पुकारका मैंने उत्तर दिया—भयकी बात मनमे ही नहीं आई। और कहीं न हो, पर साहित्यमे गुरु-वादको मैं मानता हूँ।

रवीन्द्रके साहित्यकी व्याख्या मैं नहीं कर सकता। किन्तु ऐकान्तिक श्रद्धाने उसके मर्मका पता मुझे दे दिया है। पण्डितोंके तत्त्व-विचारमें, उसमें अगर कोई भूल-चूक हो तो रहे, किन्तु मेरे निकट वही सत्य है।

मै जानता हूँ कि रवीन्द्रके साहित्यकी आलोचनामे यह सब अवास्तव, शायद अर्थहीन है; किन्तु आरम्भमें ही मै कह चुका हूँ कि आलोचनाके लिए मै यहाॅ नहीं आया। उसके सहस्र-धारा-प्रवाहित सौन्दर्य और माधुर्यका विवरण देना भी मेरी शक्तिके बाहर है। मै तो आया था केवल अपनी कुछ व्यक्तिगत बातोंको इस जयन्ती-उत्सवकी सभामे निवेदन करनेके लिए।

काव्य, साहित्य और कवि रवीन्द्रनाथको मैंने जिस भावसे प्राप्त किया है, वह मैंने जता दिया। मनुष्य रवीन्द्रनाथके संस्पर्शमे मै साधारण ही आया हूँ। एक दिन कविके पास गया था बंगला-साहित्यमें समालोचनाकी धारा प्रवर्तित करनेका प्रस्ताव लेकर। अनेक कारणोंसे कवि उस प्रस्तावको स्वीकार नहीं कर सके। उसका एक कारण उन्होंने यह बताया था कि जिसकी प्रशंसा करनेमें वह असमर्थ हैं, उसकी निन्दा करनेमे भी वह वैसे ही अक्षम हैं। यह भी उन्होंने कहा था कि तुम लोग यदि यह काम करो तो यह कभी न भूलो कि अक्षमता और अपराध एक ही वस्तु नहीं हैं। मै सोचता हूँ, साहित्यके विचारमे यदि इस सत्यको सभी याद रखते!

किन्तु इस सभामे मैंने आपका बहुत-सा समय बर्बाद किया, बस, अब और नहीं करूँगा। अयोग्य व्यक्तिको सभापति चुननेका यह दण्ड है। यह आपको सहना ही होगा। खैर, वह चाहे जो हो, रवीन्द्र-जयन्ती-उत्सवके उपलक्षमे यह समादर और सम्मान मेरे लिए आशातीत है। इसीसे सकृतज्ञ चित्तसे आप लोगोंको नमस्कार करता हूँ।[1]

मुसलिम साहित्य-समाज

मुसलिम साहित्य-समाजके दशम वार्षिक अधिवेशनमें मुझे आप लोगोंने सभापति चुना है। यद्यपि इसका नाम आप लोगोंने मुसलिम साहित्य-समाज रक्खा है, तथापि इस चुनावमें एक बड़ी भारी उदारता है। आप लोगोंने यह प्रश्न नहीं किया कि मै हिन्दू-समाजके अन्तर्गत हूँ; या मुसलमान-समाजके, मैं

[1] बंगला सन् १३३८ में रवीन्द्र जयन्तीके उपलक्ष्यमें पठित।

बहुत देवताओंका उपासक हूँ या एकेश्वरवादी। आपने केवल यह सोचा कि मैं बंगाली हूँ, बंगसाहित्यकी सेवामें ही बूढ़ा हुआ हूँ। अतएव साहित्यके दरबारमें मेरा भी एक स्थान है। वह स्थान आपने मुझे बिना किसी हिचकके खुशीसे दिया है। मैंने भी कृतज्ञ चित्तसे आनन्दके साथ उस दानको ग्रहण किया है। सोचता हूँ, अगर आज सभी विषयोंमे ऐसा हो सकता! जो गुणी है, जो महान् है, जो बड़ा है, वह चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई, चाहे स्पृश्य हो चाहे अस्पृश्य, चाहे जो हो, बिना हिचकके विनयके साथ उसके योग्य आसन उसे हम दे सकते! सशय, दुविधा कहीं काँटे न बो सकती! किन्तु इस बातको छोड़ो। मैंने पहले एक पत्रमें कहा था, साहित्यमें तत्त्व-विचार बहुत हो गया है। अनेक मनीषी, अनेकरसिक, अनेक अधिकारी बहुत बार इसकी सीमा और स्वरूपका निर्देश कर चुके हैं। उस आलोचनाको और चलानेमें मेरी रुचि या प्रवृत्ति नहीं है। मैं कहता हूँ, यह साहित्य-सम्मिलन प्रबन्ध या लेख पढ़नेके लिए नहीं है; सुतीक्ष्ण समालोचनासे किसीको धराशायी करनेके लिए नहीं है; कौन कितना अक्षम है, इसकी उच्च कण्ठसे घोषणा करनेके लिए नहीं है, जिसने जो लिखा है उससे अच्छा क्यो नहीं लिखा, इसकी कैफियत लेनेके लिए नहीं है; यह केवल साहित्यिकोंसे साहित्यिकोंके मिलनेका क्षेत्र है। इसका आयोजन एकके साथ दूसरेके भाव-विनिमय और अच्छी तरह परिचयके लिए है। मुझे याद आता है, जब अवस्था कम थी, जब इस व्रतमें नया ही नया व्रती हुआ था, तब बुलावा पाकर भी मैं कितनी ही साहित्यसभाओंमें दुविधा और सकोचके मारे उपस्थित नहीं हो सका। मैं निश्चयके साथ जानता था कि सभापतिके लम्बे अभि-भाषणका एक अंश मेरे लिए निर्दिष्ट होगा ही। कभी नाम लेकर, कभी न लेकर। वक्तव्य अति सरल होगा। मेरी रचनाओंसे देशके दुर्नीतिसे परिपूर्ण होनेमें अब कसर नहीं है और सनातन हिन्दू-समाज जहन्नुममें जाना ही चाहता है। जानेकी आशंका थी, अगर मैं असहिष्णु होकर नजीरें देकर उसका जवाब देता। लेकिन यह अपकर्म मैंने किसी दिन नहीं किया। सोचता था, मेरी साहित्य-रचना अगर सत्यकी नींवपर खड़ी है, तो उसे एक-न-एक दिन लोग समझेंगे ही। जो कुछ हो, यह दुःख मैंने आप भोगा है, दूसरेको नहीं देना चाहा। मगर यह मैं बिना कपटके कह सकता हूँ कि मेरा यह अभिभाषण सुनकर

आप लोगोंकी साहित्यिक जानकारी एक तिल भी नहीं बढ़ेगी और जब जानता हूँ कि बढ़ेगी नहीं, तब फिर फिजूल बातोंकी अवतारणा क्यों करूँ ? यहीं समाप्त करना ही तो ठीक होता। ठीक न होता, यह बात नहीं है, लेकिन एक दिन यह बात मैंने आप ही उठाई थी, इसीलिए उसीके सूत्रको पकड़कर इस सम्मिलनमें और भी कुछ थोड़ी-सी बातें कहनेका लोभ होता है।

एक दिन मेरे कलकत्तेके मकानमें काजी मुतहर साहब आकर उपस्थित हुए। वह साहित्यकी आलोचना करने नहीं आये थे, आये थे शतरंज खेलने। यह दोष हम दोनोंमें है। मेरी तबीयत अच्छी न थी, इससे खेल नहीं हुआ, हुई वर्तमान साहित्यके प्रसंगमें थोड़ी-सी आलोचना। उसीका भाव मोटे तौरपर मैंने कल्याणीया जहानआराके वार्षिक पत्र 'वर्ष-वाणी'में छपनेके लिए चिट्ठीके रूपमें लिख भेजा। और वही 'अवाछित व्यवधान' शीर्षकसे 'बुलबुल' मासिक-पत्रके सम्पादक श्रद्धेय मोहम्मद हबीबुल्लाह साहबने उद्धृत किया अपनी आषाढ़की संख्यामें। मैंने देखा, उसका एक जवाब श्रीलीलामय रायने और दूसरा जवाब वाजिदअली साहबने दिया है।

लीलामयके लेखमें क्षोभ है, क्रोध है, निराशा है। मैंने कहा था कि साहित्यकी साधना अगर सत्य है तो उसी सत्यके द्वारा एक दिन एकता आवेगी। कारण, साहित्यिक लोग परस्पर एक-दूसरेके परम आत्मीय हैं। हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हों, तो भी वे गैर नहीं हैं—अपने ही आदमी हैं। लीलामयने कहा है—"प्रतिकार यदि है तो वह साहित्यमें नहीं है, वह स्वाजात्यमें है।" स्वाजात्य शब्दसे उन्होंने क्या कहना चाहा है, मेरी समझमें नहीं आया। उन्होंने कहा है—"ऐक्य वस्तु organic (मनकी) है। हाड़के साथ मांस जोड़नेसे जैसे मनुष्य नहीं होता वैसे ही हिन्दूके साथ मुसलमान जोड़नेसे बंगाली नहीं होता, भारतीय नहीं होता।" इसके बाद कहा है—"हिन्दू और मुसमानमें समझौतेके अलावा और कुछ करनेको नहीं है। अतएव व्यवधान रह ही जायगा, जातीयता भी न होगी, आत्मीयता भी न होगी।" ये सब बातें क्षोभके प्रकाशके सिवा और कुछ नहीं है। किन्तु मैं कहता हूँ कि इन लोगोंके श्रेष्ठ साहित्यिक, पण्डित और विचारशील लोग भी आज अगर ऐसी ही बातें कहने लगें तब तो फिर निराशासे चारों ओर अन्धकार ही देख पडेगा। यह बात क्या

ये लोग नहीं जानते ? मनकी कटुतासे कोई मीमांसा नहीं होती, मिलन भी नहीं होता। और ऐसी ही हताशाका भाव मोहम्मद वाजिदअलीके लेखमें भी प्रकट हुआ है। उन्होंने कहा है—"आज जो लोग नये सिरेसे हमारे दो पड़ोसी समाजोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे, इस बातको लेकर जिस अद्‌भुत समस्याकी सृष्टि हुई है, उसका बन्धन काटकर कल्याणके अभिसारी होंगे, उनका रास्ता लम्बा है, उनकी साधना कठिन है।" मैं यह बात नहीं मानना चाहता। मैं जोरके साथ प्रश्न करना चाहता हूँ कि उनकी राह क्यों लम्बी होगी ? काहेके लिए उनकी साधना सुकठिन हो उठेगी ? क्यों हम एक सहज सुंदर राहसे इस समस्याका समाधान खोज न पावेंगे ? वाजिदअली साहबने इसके बाद फरमाया है कि "जिनके मनमें प्रबल विरोधका भाव है, हृदयमें गहरी अप्रीति है, चित्तमें लम्बा व्यवधान है, यह तो उन्हीं लोगोंको खींच-खाँचकर पास-पास खड़ा करना हुआ। शिष्टाचारके तकाजेसे उनका हाथसे हाथ तो मिला, पर आँखें नहीं मिलीं। पर एक आदमीका हृदय दूसरे आदमीके हृदयसे सौ योजन दूर रहा।" इसका कारण दिखाते हुए उन्होंने कहा है—"अपरिचित मुसलमान आया विजयीके वेषमें, उसने राजाके आसनपर अधिकार किया। यह बात नहीं है कि लोग उसके अनुगत नहीं हुए या उसे राजाका सम्मान नहीं मिला। किन्तु भारतवर्षको अपना देश स्वीकार करके भी देशके मनकी मित्रता उसे नसीब नहीं हुई। इन दोनोंके बीच अपरिचयका जो व्यवधान है, वह अवाञ्छित होनेपर भी किसी दिन नहीं मिटा।" किन्तु यही क्या पूरा सत्य है ? अगर सत्य है तो यह अवाञ्छित व्यवधान मिटाकर मित्रता करनेमें कितने-से दिन लगेंगे ? जान पड़ता है, लीलामयने बड़ी व्यथाके कारण ही लिखा है—"जो लोग विदेशसे आये हैं और आज भी यह बात मनमें रक्खे हुए हैं, जिन लोगोंने अबतक पानीके ऊपर तेलकी तरह रहनेका निश्चय कर रक्खा है, जिन लोगोंको देशके अतीतके बारेमें खोजकी इच्छा और वर्तमानके सम्बन्धमें वेदनाका बोध नहीं है, राष्ट्रके भीतर और एक राष्ट्र (पाकिस्तान) की रचना करना ही जिनका स्वप्न है, उनके हम लोग कौन हैं, जो गले पड़कर उन्हें अप्रिय सत्य सुनाने जायँगे ?"

इस बातका यह मतलब नहीं कि हम व्यवधानको पसन्द करते हैं, मित्रता नहीं चाहते। परस्परकी आलोचना-समालोचना छोड़ देना ही हमारा

कर्तव्य है। इस कथनका तात्पर्य क्या है, सो समस्त साहित्य-रसिक समझदार मुसलिम-समाजसे ही सोचने—उसपर ध्यान देने—के लिए मैं कहता हूँ, कलह-विवाद, तर्क-वितर्क, वाद-वितंडा करके नहीं। कहाँ भ्रम है, कहाँ अन्याय है, कहाँ अविचार छिपा हुआ है, उस अकल्याणको सुस्थ-सबल चित्तसे खोज निकालनेके लिए कहता हूँ, और दोनो पक्षोंसे विनय और श्रद्धाके साथ उसे स्वीकार कर लेनेके लिए। तब हम परस्परसे स्नेह, प्रेम और क्षमा अवश्य ही पावेंगे।

वाजिदअली साहबने एक बड़ी अच्छी भरोसेकी बात कही है और वह हिन्दू-मुसलमान सबको याद रखनी चाहिए। उन्होंने कहा है—"मुसलिम साहित्य-सेवक अरबी-फारसी शब्दोंको बंगला भाषाके शरीरमे जोड़ना चाहते हैं, इसपर आपत्ति-अनापत्ति अति तुच्छ बात है; क्योंकि केवल कलम चलाकर यह काम नहीं हो सकता। इसके लिए चाहिए प्रचुर साहित्यिक शक्ति, चाहिए सृष्टि करनेवाली प्रतिभा। ये दोनो (शक्ति और प्रतिभा) जहाँ नहीं हैं, वहाँ भाषा-भूषण पहननेकी चेष्टामे अत्यन्त सहजमें ही स्वाँग बना जा सकता है।

स्वाँग तो बनेगा ही। किन्तु यह ज्ञान है किसे? जो यथार्थ साहित्य-रसिक है, उसे। भाषाको जो प्रेम करता है, निष्कपटभावसे उसके साहित्यकी सेवा करता है, उसे। उसका तो मुझे भय नहीं है। मुझे भय है उन लोगोंका जो साहित्य-सेवा न करके भी साहित्यके ठेकेदार बन बैठे हैं। प्रिय न होनेपर भी एक दृष्टान्त देता हूँ। 'महेश'[1] नामकी मेरी एक छोटी सी कहानी है। बहुतसे साहित्य-प्रेमियोंने उसकी प्रशंसा की है। एक दिन सुना गया कि वह कहानी मेट्रिककी पाठ्य पुस्तकमें स्थान पा गई है और फिर एक दिन सुन पड़ा कि वह अपनी जगहसे हटा दी गई है। विश्वविद्यालयके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सोचा, शायद ऐसा ही नियम होगा। कुछ दिन कोई चीज पाठ्य पुस्तकमें रहती है, फिर निकाल दी जाती है। किन्तु बहुत दिनो बाद एक साहित्यिक बन्धुके मुखसे बातों-ही-बातोंमें उसका असल कारण सुननेको मिला। मेरी कहानीमें

१. देखिए, शरत्-साहित्य भाग १५।

गो-हत्या कराई गई है। ओहो! हिन्दू बालकोंकी छातीमें इससे शूल-सा लगेगा! विश्वविद्यालयके बंगला-विभागके लम्बी तनख्वाहवाले अध्यक्ष महाशय इस अनाचारको कैसे सहन कर लेते? इसीसे 'महेश'की जगहपर अध्यक्ष महाशयकी स्व-लिखित कहानी 'प्रेमके ठाकुर'का शुभागमन हुआ। मेरी 'महेश' कहानी किसी-किसीने पढ़ी होगी, और शायद बहुतोंने नहीं पढ़ी होगी। इसीसे उसकी विषय-वस्तु संक्षेपमें यहाँ कह दूँ। एक हिन्दू जमींदारके छोटेसे गाँवमे, जहाँ हिन्दू ही अधिक रहते थे, गरीब किसान गफूरका घर था। वेचारेके होनेके नाते था एक बहुत जीर्ण-जर्जर बहुतसे छेदोंवाला फूसका घर, लगभग दस सालकी लड़की अमीना और एक साँड़। गफूरने दुलारसे उसका नाम महेश रख दिया था। बाकी लगानकी बाबत जब उस छोटेसे गाँवके उससे भी छोटे जमींदारने उसके खेतका सब धान-पयाल रोक लिया, तब उसने रोककर कहा—हजूर मेरा धान तुम ले लो, हम बाप-बेटी दोनों भीख माँगकर खा लेंगे; लेकिन यह पयाल मुझे दे दो। नहीं तो इस दुर्दिनमें मैं अपने महेशको कैसे जीता रखूँगा? किन्तु उसका रोना अरण्य-रोदन ही हुआ—किसीने दया नहीं की। इसके बाद उसको कितने ही प्रकारका दुःख मिलना शुरू हुआ, कितनी ही तरहसे उसे सताया जाने लगा। लड़की जब बाहर पानी भरने जाती थी, तब गफूर लड़कीसे छिपाकर उसी जीर्ण छप्परका फूस नोच-नोचकर महेशको खिलाता था; झूठमूठ ही कह देता था कि बेटी अमीना, मुझे आज बुखार है, मेरे हिस्सेका भात तू महेशको दे दे और दिनभर आप भूखा ही रह जाता। भूखकी ज्वालासे महेश कुछ अत्याचार कर बैठता था, तो इस दस सालकी लड़कीसे भी वह बेहद डरता और कुण्ठित होता था। लोग कहते थे कि गफूर, तू इस बैलको खानेको नहीं दे पाता, इसे बेच डाल। गफूर आँसू बहाता हुआ धीरे-धीरे महेशकी पीठपर हाथ फेरकर कहता—महेश, तू मेरा बेटा है। तूने सात साल मेरा प्रतिपालन किया है। खानेको न पाकर तू कितना दुबला हो गया है। तुझे आज मैं क्या दूसरेके हाथमें दे सकता हूँ बेटा? इसी तरह जब दिन कटना नहीं चाहते थे, तब एक दिन अकस्मात् एक भीषण घटना हो गई। उस गाँवमें पानी भी सुलभ नहीं था। सूखे पोखरके बीच गढ़ा खोदकर बहुत थोड़ा-सा पीनेका पानी बड़ी मुश्किलसे मिलता था। अमीना गरीब मुसलमानकी लड़की होनेके कारण, छू

जानेके डरसे, पोखरसे किनारे दूरपर खड़ी रहकर, पड़ोसकी औरतोंसे खुशामद करके माँगकर, बड़ी मुश्किलसे, बड़ी देरमें, अपना घड़ा भरकर घर लौट आई। इतनेमें भूखे-प्यासे महेशने उसे ढकेलकर घड़ा फोड़ दिया और एक साँसमें जमीनसे पानी सोखने लगा। लड़की रो उठी। ज्वरग्रस्त गफूरका प्याससे गला सूख रहा था। वह कोठरीसे बाहर निकल आया। यह दृश्य उसे बर्दाश्त नहीं हुआ। हिताहितका ज्ञान उसे नहीं रहा। उसने सामने जो पाया—एक मोटी लकड़ी—वही उठाकर महेशके सिरपर जोरसे दे मारी। अनशनसे मुर्दा हो रहा बैल दो-एक बार हाथ-पैर फड़फड़ाकर मर गया।

पड़ोसियोंने आकर कहा—हिन्दुओंके गाँवमें गोहत्या! जमींदारने तर्करत्न पण्डितके पास इस पापके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था लेनेके लिए भेजा है। अबकी कहीं तुझे घर-द्वार न बेचना पड़े! गफूर दोनों घुटनोंके ऊपर मुँह रखकर चुपचाप बैठा रहा। उस समय महेशके शोकसे, पश्चात्तापसे उसका हृदय जला जा रहा था। बड़ी रात गये गफूरने लड़कीको उठाकर कहा—चल, हम लोग यहाँसे चले।

लड़की आँगनके चबूतरेपर सो गई थी। आँखें मलकर बोली—कहाँ अब्बा? गफूरने कहा—फुलबेड़ाकी चटकलमें काम करने।

अमीना आश्चर्यके साथ बापका मुँह ताकती रही। इसके पहले बहुत दुःख और कष्टमें भी उसका बाप चटकलमें काम करनेके लिए राजी नहीं हुआ था। वह कहता था कि वहाँ धर्म नष्ट हो जाता है, औरतोंकी आबरू-इज्जतपर आँच आती है—वहाँ कभी नहीं जाऊँगा। किन्तु एकाएक यह क्या कह रहा है!

गफूरने कहा—देर न कर बेटी, चल। बहुत दूर चलना होगा। अमीना पानी पीनेका पात्र और बापके भात खानेकी पीतलकी थाली साथ ले रही थी: किन्तु बापने मना करके कहा—यह सब रहने दे बेटी, इनसे मेरे महेशका प्रायश्चित्त होगा।

इसके बाद कहानीके उपसंहारमें पुस्तकमें लिखा है—गहरी अँधेरी आधी रातको वह लड़कीका हाथ पकड़कर घरसे निकल पड़ा। इस गाँवमें उसका कोई

८

आत्मीय नहीं था, किसीसे कुछ कहनेको न था। आँगन पार होकर राहके किनारे उस बबूलके पेड़के तले आकर रुककर खड़े होकर वह जोरसे रो उठा। नक्षत्र-खचित काले आकाशकी ओर मुँह उठाकर उसने कहा—अल्लाह! मुझे जितनी चाहे सजा देना; लेकिन मेरा महेश प्यासा मरा है। उसके चरनेके लिए जरा-सी जमीन किसीने नहीं छोड़ी। जिसने तुम्हारी दी हुई मैदानकी घास और तुम्हारा दिया हुआ प्यास बुझानेका पानी उसे खाने-पीने नहीं दिया, उसका कसूर तुम कभी माफ न करना।

यह हुई गो-हत्या! यह पढ़कर हिन्दूके लड़केके हृदयमें शूल विंधेगा, इसलिए उसकी अपेक्षा वह 'प्रेमके ठाकुर' पढ़े। उससे यह लोक न सही, परलोकमें तो सद्गति होगी! इन कान्तिमान् सुपरिपुष्ट प्रेमके ठाकुरसे पूछनेको जी चाहता है कि मुसलमान-सम्पादित पत्रमें इस कहानीकी जो कड़ी आलोचना निकली थी, उसका क्या कोई कारण नहीं है? वह क्या एकदम मिथ्या और अमूलक है?

इससे, मुझसे भी अवस्थामें बड़े व्यक्तिसे मैं सम्मानपूर्वक निवेदन किये रखता हूँ कि खूब बड़े होनेपर भी मनमें थोड़ी-सी विनय या नम्रता रहना अच्छा होता है। सोचना चाहिए कि उनकी लिखी कहानीके साथ बंगालके छात्र-छात्राओंका परिचय घटित न होनेपर भी विशेष कोई हानि नहीं थी। मैं Text Book (पाठ्य-पुस्तकों) से पैसा नहीं पाता—यह मेरा रोजगार नहीं है—अतएव कोई हानि-लाभ भी नहीं है—तो भी इससे क्लेश होता है। अपने लिए नहीं, अन्य कारणसे। केवल सान्त्वना यही है कि अयोग्यके हाथमें भार पड़नेसे ही ऐसी दुर्दशा होती है। जिस व्यक्तिने कभी साहित्य-साधना नहीं की, वह कैसे समझेगा कि किसके माने क्या है! सुना है, उन्होंने मेरी 'रामकी सुमति' कहानीका थोड़ा-सा अंश दिया है। अत्यन्त दया हुई। जान पड़ता है, इससे रामों (हिन्दू छात्र-छात्राओं) को सुमति होगी। लेकिन मुश्किल यह है कि देशमें रहीम लोग (मुसलमान छात्र-छात्रा) भी हैं।

फिर केवल विद्यालय ही नहीं, 'महेश'के भाग्यमें अन्य दुर्घटना भी घटित हुई है। उसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं देना चाहता; किन्तु मैं निःसंशय

जानता हूँ कि एक हिन्दू जमींदारने आँखें लाल करके धमका कर कहा था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी सहायतासे छपनेवाले मासिक या साप्ताहिक पत्रमे देखो, इस तरहकी कहानी अब न छापी जाय। इससे जमींदारके विरुद्ध प्रजाको भड़काया जाता है, अर्थात् देशका सर्वनाश होता है।

खैर, अपनी बात जाने देता हूँ।

फिर ऊपर कहे गये हिन्दू मुरब्बियोंकी तरह मुसलमान मुरब्बी भी हैं। सुना है, वे इतिहासको फर्माइशके माफिक लिखनेका आदेश देते हैं। उनका मंशा है कि पाठ्य-पुस्तकोंमें कहीं इसका लेशमात्र भी जिक्र न रहे कि किसी इसलाम-धर्मी व्यक्तिने कहीं अन्याय-अविचार किया है। यहाँ भी सान्त्वना यह है कि इनमेंसे किसीने कभी साहित्यकी सेवा नहीं की। करते तो ऐसी बात कभी जबानपर न ला सकते। सच्चे साहित्यकारके हाथमें अगर यह काम करनेका भार पडे तो मेरा विश्वास है कि न हिन्दू और न मुसलमान, किसीकी ओरसे तनिक भी अभियोग न सुना जायगा। भाषाके प्रति, साहित्यके प्रति सच्चा दर्द उन्हें सत्य मार्गमे ही परिचालित करेगा।

वाजिदअली साहबने एक स्थानपर कहा है—"मुसलमानके इस नवस्फूर्त आत्मप्रकाशने, इसलामी संस्कृतिके इस बलिष्ठ जागरणने साहित्य-क्षेत्रमे शरत्चन्द्र-की-सी शक्तिशालिनी प्रतिभाका ध्यान अपनी ओर खींचा, यह शायद देशके अनागत (भविष्य) कल्याणका एक शुभ संकेत है। किन्तु तो भी मन सन्देह, और अविश्वाससे, दुविधा और जिज्ञासासे क्यो डोल उठता है? बुलबुल (पत्रिका) मे प्रकाशित उनके पत्रमे मुसलमानोंके प्रति उनकी सहानुभूतिका अभाव, प्रेमका अभाव और मोटे तौरपर एक अन्तर्दृष्टिका अभाव देख पड़ता है।"

मुझे पूछनेकी इच्छा होती है कि मुसलमानोंका यह 'नवीन स्फूर्त आत्म-प्रकाश,' इसलामी संस्कृतिका यह 'बलिष्ठ जागरण' किसका है? जो नवीन हैं, जो उदार बंगला भाषाको अकुंठित चित्तसे अपनी मातृभाषा स्वीकार करते हैं, उनका है या जो पुरातनपंथी हैं, उनका? मेरा अभिमत यह है कि जो प्राचीन-पंथी हैं, जो पीछेके सिवा आगे देखना नहीं जानते, उनका जागरण क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी समाजोंके लिए विघ्नस्वरूप है। हिन्दुओंके सम्बन्धमें

मैं यह बात बहुत बार बहुत जगह लिख चुका हूँ; मुस्लिम समाजके सम्बन्धमें भी निःसंशय होकर कह सकता हूँ कि यह जागरण अगर नई पीढ़ीका हो तो वह श्रावणकी पूनोके ज्वारकी तरह सबको बहाता—डुबाता हुआ आवे, तो भी मैं दोनों हाथ उठाकर उसका स्वागत करूँगा। जानूँगा, इनके हाथसे सब कुछ शुभ और सुन्दर ही होगा—इनके हाथसे हिन्दू-मुसल्मान किसीके भी अनिष्टका भय नहीं है, इनके हाथमें हम दोनों ही निरापद होंगे। मुझे केवल पुरातनपंथियोंके सम्बन्धमें आशंका है।

वाजिदअली साहबने इसके बाद कहा—"शरच्चन्द्र जैसे साहित्यिकोंका सम्प्रदाय अथवा जाति एक है, दो नहीं, यह बात सहज ही हमारी स्वीकृतिका दावा कर सकती है। किन्तु और भी एक सहज बातकी ओर मैं उनकी दृष्टि आकृष्ट करता हूँ। वह यह कि साहित्य मनुष्यके मनकी सृष्टि है और मनुष्यके मनको तैयार करता है उसका धर्म, उसका समाज, उसके आसपासका वातावरण और उसकी संस्कृति। अपनेको इनसे अलग करना क्या साधारण बात है? और साधारणतः यह बात क्या सम्पूर्ण रूपसे सम्भव है?"

ये बातें केवल आंशिक सत्य हैं—सम्पूर्ण सत्य नहीं। कारण, स्थूलरूपसे इतना ही जान रखना जरूरी है कि मनुष्य जब साहित्यकी रचनामें निविष्ट-चित्त होता है, उस समय वह ठीक हिन्दू या ठीक मुसलमान नहीं होता। उस समय वह अपने सर्वजनपरिचित 'अहं' को बहुत दूर छोड़ जाता है, नहीं तो उसकी साहित्य-साधना व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए जहाँ कुछ भी एक नहीं है, बाहरसे कुछ भी मेल नहीं बैठता, वहाँ भी मैक्सिम गोर्की जैसे साहित्यिकेवक्त हमारे हृदयके भीतर बहुत-कुछ आत्मीयका आसन ग्रहण कर बैठे रहते हैं। यह बात मैं सभी साहित्यिकोंसे याद रखनेके लिए कहता हूँ। किसीने कभी कहीं असावधानीके समय कोई बात कह डाली हो, तो वही उसके जीवनका परम सत्य नहीं हो जाती। केवल उसीको लेकर विचार नहीं किया जा सकता और इसीलिए वाजिदअली साहबने अपने लेखमें मेरे सम्बन्धमें जो सब कठिन उक्तियाँ की हैं, उनका जवाब मैं नहीं दूँगा। क्रोध जब शांत या कम होगा, तब आप ही उन्हें जान पड़ेगा कि मैंने सच बात ही कही थी। वाजिदअली साहबने सबसे अधिक हृदयविदारक बात यहाँपर कही है—"वास्तवमें दो

विषम अनात्मीय संस्कृतियोंके संघर्षका ही फल यह विक्षोभ है। इसके लिए आक्षेप या दुःख करना वृथा है। हिन्दू मुसलमानको नहीं समझता, इसलिए आज चारों ओर दुःखका विलाप गूँज रहा है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि उसके भारतीय धर्म, समाज और संस्कृतिने उसके मनको तंग बना दिया हो, दृष्टिको ढक लिया हो। अपने घेरेको नॉघकर वह चल नहीं सकता। जो अपने आभिजात्य या श्रेष्ठताके गर्वमें चिरकालसे डूबा हुआ है, पराजयका प्राचीन रोष जिसका आज भी दुर्जय है, बिना युद्धके सुईकी नोकभर स्थान देनेमें भी जिसकी आपत्तिका अंत नहीं है, उसकी बुद्धिको मुक्त कहना कठिन है। अथ च, जो मुक्त नहीं है, वह नहीं चलता, चल नहीं सकता, वह जड है। इस आत्म-केन्द्रित, पर-विमुख जड़बुद्धिके परिवेष्ठ (घेरे) ने मुसलमानको अपनी वासभूमिमें परवासी बना रक्खा है। भारतकी मिट्टीके रससे रसायित होकर भी उसका मन जैसे भीगता नहीं।"

यह जो कहा है कि दो विषम अनात्मीय संस्कृतियोंके फलसे यह विक्षोभ है, सो उसके लिए आक्षेप वृथा है। हम दोनों दोनोंके पड़ोसी हैं, हम लोगोंका आकाश, हवा, धरती, जल, एक ही है। मातृभाषाका एक होना भी हम स्वीकार करते हैं। तो भी संघर्ष इतना बड़ा कठोर है कि उसके लिए आक्षेप-तक करना वृथा है—यही मनोभाव यदि सचमुच समस्त हिन्दू-मुसलमानोंका हो, तो मैं यही कहूँगा कि मनुष्यकी इससे बढ़कर और दुर्गति नहीं हो सकती। मैं पूछता हूँ कि रवीन्द्रनाथकी बुद्धि भी क्या जड़-बुद्धि है? उनका मन मुक्त नहीं हुआ? यदि यह सत्य है तो वाजिदअली साहबकी यह भाषा कहाँसे आई? सहज सुन्दर ढंगसे अनायास अपने मनका भाव प्रकट करनेकी शक्ति उन्हें किसने दी? इस युगमें ऐसा लेखक, ऐसा साहित्यसेवी कौन है, जो प्रत्यक्ष या परोक्षमें रवीन्द्रनाथका ऋणी नहीं है। साहित्य धर्म-पुस्तक नहीं है, नीति सिखानेकी पोथी भी नहीं है। उसने अपनी विशाल परिधिके भीतर अपने माधुर्यसे सब-कुछको ही अपना कर रक्खा है। इसीसे किसीने आज भी इसका सत्य निर्देश नहीं पाया कि साहित्य क्या है, रस-वस्तु क्या है। इस विषयमें कितने ही तर्क, कितना ही मतभेद है। इस अर्वाचीन व्यवधानके सम्बन्धमें मिजातुर रहमान साहबने बुलबुल मासिक पत्रकी ज्येष्ठ-संख्यामें अपने

लेखमें एक जगह निष्करुण होकर कहा है कि "शरत् बाबूने अपने ढेरके ढेर उपन्यासोंके भीतर-भीतर जगह-जगह मुसलमान-समाजके जो सब चित्र अंकित किये हैं, वे मुसलमान-समाजके खूब ऊँचे दर्जेके लोगोंके नहीं हैं।" किन्तु मैं पूछता हूँ, खूब ऊँचे-नीचे दर्जेके पात्र-पात्राओंके ऊपर ही क्या उपन्यासकी उच्चता-नीचता, भला-बुरा निर्भर करता है? अगर यही उनका अभिमत हो, तो मेरे साथ उनका मत मेल न खायगा। न मेल खाय, किन्तु उपसंहारमें जो उन्होंने कहा है कि "शरच्चन्द्रने हिन्दू समाजके विविध दोषों और समस्याओंको लेकर जो सब कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं और प्रतिकारके उद्देश्यसे अपने समाजको जो चाबुक मारे हैं, उन सदिच्छा-प्रणोदित निर्मम कशाघातोंको भी मुसलिम समाज अम्लानवदन होकर ग्रहण करेगा—यह मैं जोर देकर कह सकता हूँ। मैं बंगालके कथा-साहित्य-सम्राट्से एक बार परीक्षा करके देखनेका अनुरोध करता हूँ।"

उस दिन जगन्नाथ-हालमें अपने अभिनन्दनके प्रतिभाषणमें इस बातका उत्तर मैंने दिया है। हार्दिक शुभकामनाको ये लोग कैसे ग्रहण करते हैं यह, इस संसारसे विदा होनेके पहले मैं देख जाऊँगा। खैर, वह चाहे जो हो, मनुष्य केवल अपनी इच्छा ही प्रकट कर सकता है, किन्तु उसके परिपूर्ण होनेका भार और एक जनके ऊपर रहता है, जो वाक्य और मनके अगोचर है। उस दिन भोजन करते समय हिज एक्सेलेंसी (गवर्नर) ने मुझसे यही प्रश्न किया था। मैंने उत्तर दिया था कि मैं दोनों समाजोंके आशीर्वादके साथ अपने इरादेको कार्यरूपमें परिणत करना चाहता हूँ। ठीक समाजोंका नहीं, चाहता हूँ दोनों समाजोंके साहित्यसेवकोंका आशीर्वाद। जिस भाषामें जिस साहित्यकी इतने दिनतक सेवा की है, उसके ऊपर अकारण अनाचार मुझसे सहा नहीं जाता। मेरे मनमें पूर्ण विश्वास है कि मेरी तरह जिन्होंने साहित्यकी यथार्थ साधना की है, वे हिन्दू या मुसलमान जो भी हों, किसीसे यह अनाचार सहा नहीं जायगा। सौन्दर्य और माधुर्यके लिए अगर कुछ परिवर्तनका प्रयोजन हो—ऐसा तो कितनी ही बार हुआ है—तो यह काम धीरे-धीरे ये ही लोग करेंगे, और कोई नहीं। वह हिन्दूपनके कल्याणके लिए नहीं, मुसलमानियतके भी कल्याणके लिए नहीं। साधारणतः यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है।

मैंने कहाँ किस रचनामें मुसलिम समाजके प्रति अविचार किया है—मेरी धारणा तो यही है कि मैंने नहीं किया—बालकी खाल निकालनेवाला इसका वाद-प्रतिवाद प्रतिकारका रास्ता नहीं है; वह तो कलह-विवादकी एक और नई राह तैयार करना है।

प्रयोजन जानकर मैंने 'बुलबुल'के अनेक उद्धरण दिये हैं। मैं इस पत्रिकाकी अनवरत अखण्ड उन्नतिकी कामना करता हूँ। कारण, मैंने इसको जितना कुछ पढ़ा है, उससे मुझे मालूम हुआ है कि इसके सम्पादक और लेखक साहित्यकी उन्नति ही चाहते हैं और मेरी भी यही कामना है। हो सकता है, उन्होंने कहीं कुछ कटूक्ति की हो, किन्तु वह याद रखनेकी चीज नहीं है, भूल जानेकी चीज है।

किन्तु बस। कहनेके विषय अभी और अनेक थे, लेकिन आप लोगोंके धैर्यके प्रति सचमुच मैंने अत्याचार किया है। इसके लिए क्षमाप्रार्थना करता हूँ। मेरे इस अभिभाषणमें पाण्डित्य नहीं है। कारीगरी नहीं है, कहनेकी बातें केवल सीधे-सादे ढंगसे कह गया हूँ, जिसमें किसीको मेरा मतलब समझनेमें कोई कठिनाई न हो और सुननेके बाद कोई यह न कहे कि जैसी अतुलनीय शब्दसम्पत् है, वैसी ही कारीगरी किन्तु ठीक क्या कहा गया, सो अच्छी तरह समझमें नहीं आया।

बंगला-साहित्यकी सेवा करके मुसलमानोंमें जो चिरस्मरणीय हो रहे हैं, उनके प्रति मेरी असीम श्रद्धा है, तो भी उनके नामोंका उल्लेख मैं नहीं करता।

अन्तमें कृतज्ञता प्रकट करनेकी एक रीति है, जैसे आरम्भ करते समय विनय प्रकट करनेकी प्रथा। पहलेकी प्रथाका पालन मैंने नहीं किया। कारण, साहित्य-सभाओंमें सभापतिका काम इतना अधिक करना पड़ा है कि मुझे जान पड़ता है, इस साठ वर्षकी अवस्थामें अपने नामके साथ अनुपयुक्त, बेवकूफ इत्यादि विशेषण ठीक शोभा न देंगे। किन्तु कृतज्ञता प्रकट करनेके समय यह बात नहीं है। मुसलिम समाजके समस्त विद्वानोंके निकट आज मैं अकपट चित्तसे कृतज्ञता निवेदन करता हूँ। आप लोग मेरा सलाम ग्रहण करें। कहनेके दोषसे अगर

मैंने किसीका जी दुखाया हो तो वह मेरी भाषाकी त्रुटि है, मेरे अन्तःकरणका अपराध नहीं। इति।'

साहित्यिक सम्मिलनका उद्देश्य[1]

आप लोग यहाँ अनेक स्थानोंसे आये हैं। आनेपर हम लोगोंका आपसमें परस्पर देखना-भालना हुआ, आलाप-परिचय हुआ। पहले मैं जिन सभा-समितियोंमें सम्मिलित हुआ हूँ, वहीं अफसोस किया है कि सभामें सम्मिलित तो अवश्य हुआ, लेकिन आपसमें आलाप-परिचय नहीं हुआ। यह एक ऊँचे दर्जेकी साहित्य-सभा है। साहित्य मेरा पेशा है, जीविका भी यही है। यह काम शुरू करके मैं कितना क्या कर पाया हूँ या नहीं कर पाया हूँ, यह आप पाँच जने ही जानते हैं।

आप लोग मुझसे भाषण करनेके लिए कहते हैं। पहले तो मैं बोल नहीं पाता, अच्छी आवाज भी नहीं है। कहनेके लिए बात भी ढूँढ़े नहीं पाता, तो भी आप लोग समझते हैं कि कुछ काम हुआ है, और मेरा आत्म-विश्वास कहिए चाहे आत्माभिमान ही कहिए, मैं समझता हूँ कि मैंने इसकी चेष्टा की है।

साहित्यके मामलेमें शुरूसे ही मैंने कहा है और चाहा है कि मैं कभी मिथ्याका आश्रय न लूँ। यह अवश्य है कि सत्य वस्तु ही साहित्य नहीं है। संसारमें अनेक बातें ऐसी हैं जो सत्य हैं किन्तु साहित्य नहीं हैं। मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि सत्य बुनियादकी तरह मिट्टीके नीचे रहे, तो उसके ऊपर कल्पनासे जो महल उठाया जायगा, वह सहजमें धँस न जायगा। अपने जीवनमें यह मैंने कई बार देखा है। मेरा लिखा पढ़कर अनेक लोगोंने कहा कि 'यह बड़ा अस्वाभाविक है'। पाँच आदमियोंने पाँच तरहसे और भी

---

१. ढाकामें १५ श्रावण सन् १३४३ के दिन मुसलिम-साहित्य-समाजके दशम वार्षिक अधिवेशनमें दिया गया सभापतिका अभिभाषण। 'विचित्रा' पत्रिकाके सन् १३४३ (बँगला) की भाद्र-संख्यामें प्रकाशित।

कितनी ही बातें कहीं। मेरा वह लिखा यदि सच्चे ज्ञानके ऊपर खड़ा न हो, तो संशय होता है कि पाँच जन जब कहते हैं, तब उसे बदल दूँ। किन्तु मनुष्य भूल करे और चाहे जो करे—जब मैं जानता हूँ कि बुनियाद सत्यके ऊपर है, तब मनमें कोई संशय नहीं आता कि बदल दूँ। इसीलिए मेरे लिखनेमें जो होता है, वह एकदम ही हो जाता है, बादको उसमे काट-कूट मैं नहीं करता।

आप लोगोंमेसे जिसे जिस जगह सन्देह है, पूछिए, मैं उसका उत्तर दूँ। उससे साहित्यिक सम्मेलनका जो बड़ा उद्देश्य है, उसकी सार्थकता होगी। यह जो rigidity (कठोरताका) भाव है, इसे थोड़ा-सा बदलनेकी जरूरत है। अनेक लोग साहित्य सभामें सम्मिलित होते हैं; किन्तु वहाँसे चले जानेके समय मनमें सोचते हैं कि इतना खर्च करके यह जो इतनी दूरसे हम आये, सो हमने ऐसा क्या बड़ा काम किया। लेख-निबन्ध जो पढ़े जाते हैं, उसका बारह आना भाग लोग सुनते ही नहीं, और अगर सुनते भी हैं तो उसी समय भूल जाते हैं।

इसीसे मैं कहता था कि अगर कोई मेरे साथ परिचय करना चाहे, अगर कुछ संशय हो, तो आइये, बातचीत और मिल-जुल करके उसकी आलोचना करें। यही आजकी सन्ध्याका अनुष्ठान है।[1]

आशुतोष-कालेजकी वक्तृता

आजकल जो साहित्य-सम्मेलन होते हैं, प्रायः ही देखता हूँ कि उन सब अनुष्ठानोंमें अति-आधुनिक साहित्यकी खूब ही निन्दा होती है। मैं अति आधुनिक साहित्यकी प्रशंसा ही करता हूँ, यह बात नहीं है। मेरा वक्तव्य यह है कि इस तरहकी आलोचना न होना ही अच्छा है। कारण, इस तरह लिखना उचित है या इस तरह लिखना उचित नहीं है—यह कहनेसे कोई विशेष लाभ

१. कलकत्तेमें हुए प्रवासी-बंग-साहित्य-सम्मेलनमें दी गई वक्तृताका एक अंश, जो ४ माघ सन् १३३१ के 'वातायन' पत्रमें प्रकाशित हुआ।

नहीं होता। जिसकी जैसी शिक्षा है, जिसकी जैसी दृष्टि है, जिसकी जैसी शक्ति है, जिसकी जैसी रुचि है, वह उसीके अनुपातसे साहित्यकी रचना करता है। इस सब साहित्यमेंसे जो रहनेका है वह रहेगा और जो नहीं रहनेका है वह लुप्त हो जायगा।

साहित्य युगके धर्मसे बनता है—समालोचना या सहयोगिताके द्वारा नहीं गढ़ा जाता। सभी चीजोंकी एक क्रमोन्नति है: केवल साहित्यके मामलेमें ही यह बात नहीं है। कालिदासके बाद शकुन्तलाको यदि और भी अच्छा बनानेकी शक्ति रहती, तो जितने लोगोंने उसे पढ़ा है, जितने लोगोंने अनुकरण किया है, जितने लोगोंने उसे अच्छा कहा है—वे शकुन्तलासे उत्कृष्टतर किसी नाटककी रचना कर सकते। किन्तु यह नहीं हुआ। महाकवि कालिदास जो लिख गये हैं, वही बड़ा बना हुआ है। रवीन्द्रनाथका अनुकरण करके अनेक लोगोंने बहुत-कुछ लिखा है। किन्तु रवीन्द्रनाथकी रचना और अनुकरणमें जमीन-आसमानका अन्तर है।

लोग शायद कह सकते हैं कि मैं नये साहित्यके सम्बन्धमें विरुद्ध मत रखता हूँ; किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। मैं समयके उपर भरोसा करके बैठा हूँ। मैंने जो लिखा है, उसका अगर कोई मूल्य है तो भविष्यमें वह टिका रहेगा, और अगर टिकने योग्य न होगा तो झड़ जायगा। मनुष्यके भला या बुरा लगनेके ऊपर कोई साहित्य निर्भर नहीं रहता। वह अपने प्रयोजनसे आप ही उतर जाता है। परवर्ती कालमें मनुष्य यदि उसे समाजके भीतर, जीवनमें प्रयोजनीय न समझेगा तो फिर वह नहीं रहेगा। अतएव इस तरहकी आलोचना-से कोई लाभ नहीं है। उससे साहित्यिकोंके बीच केवल ईर्ष्या-द्वेषका भाव पैदा होता है। फर्माइश देकर साहित्यकी सृष्टि नहीं होती। इसकी अपेक्षा यह कहना अच्छा है कि तुम्हारी शुभबुद्धिके ऊपर हम भरोसा किये रहेंगे। अपनी बुद्धि और विद्या द्वारा वही करो, जिससे बँगला-साहित्य बड़ा और उन्नत हो उठे।[1]

---

१. आशुतोष-कालेजमें बंग-साहित्य सम्मेलनके द्वितीय वार्षिक उत्सवमें, २१ फाल्गुन सन् १३४२ के दिन दी गई मौखिक वक्तृता।

भाग्य-विडंबित लेखक

उस दिन मैंने गिनकर देखा कि जो सच्ची साधनामें लगे हैं, साहित्य जिनके लिए एक विलासकी सामग्री नहीं है, साहित्य जिनके जीवनका एकमात्र व्रत है, ऐसे लोग बंगालमें है ही कितने, वे तो उँगलियोंपर गिने जा सकते हैं।

ये सब साहित्यसेवी अथक परिश्रम करके अनाहार अनिद्रामें देशके लिए, दस आदमियोंके लिए, साहित्यकी सृष्टि करते हैं। सुना है, शायद वह साहित्य जनसमाजका कल्याण करता है। लेकिन हम उसका क्या मूल्य देते हैं ?

ये जो सब साहित्यिक देशके लिए प्राण-पण किये हुए हैं, उनको पुरस्कारमें क्या मिला है—केवल लाछना और गरीबी। प्रचुर धन-सम्पत्ति कमाकर वे वित्तशाली धनवान् नहीं होना चाहते; वे चाहते हैं केवल थोड़ा-सा स्वच्छन्द जीवन, सर्वनाशी दारिद्र्यके दारुण अभिशापसे छुटकारा, वे चाहते हैं केवल निश्चिन्त निर्भावनाके साथ लिखनेके लायक थोडा-सा अनुकूल वातावरण। परन्तु, वे वह भी नहीं पाते। जीवन-भर केवल भाग्य-विडंबना सहते ही उन्हे दिन काटने पड़ते हैं; और जिनके कल्याणकी कामनामें उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया, वे एक बार उधर घूमकर दृष्टिपात भी नहीं करते।

देशके लोग उन्हे देते कुछ नहीं, अथ च उनसे चाहते बहुत-कुछ हैं। कहीं किसीने अगर जरा-सा खराब लिख दिया, तो सुतीव्र समालोचनाके विषसे और निन्दाकी तीव्र बाण-वर्षासे उसे जर्जरित होना पड़ता है।

इन अतिनिन्दित कहानी-लेखकोंके दैन्य-दारिद्र्यकी कोई हद नहीं है। यह सच है: इनकी रचनाएँ पढ़कर जनसाधारण आनन्द प्राप्त करते हैं—किन्तु उनके घरकी खबर लेने जाइए तो देख पाइएगा कि ये कितने निःस्व, कितने असहाय हैं! बहुतोंके ही उपन्यासोंका शायद दूसरा संस्करण भी नहीं होता।

किन्तु क्यों ?

इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारे देशके लोग पुस्तकें पढ़ते अवश्य

है, किन्तु पैसा खर्च करके खरीदकर नहीं पढ़ते। ऐसी बात शायद उठ सकती है कि हमारे देशके जनसाधारण निर्धन हैं, उनमें पुस्तक खरीदनेका सामर्थ्य नहीं है। किन्तु जिनके सामर्थ्य है, ऐसे अनेक बड़े लोगोंके घर मैं खुद गया हूँ। जाकर देखा है, उनके यहाँ और सभी कुछ है, घर है, विलासव्यसनकी हजारों सामग्री है, नहीं है तो केवल पुस्तकें। पैसा खर्च करके किताबें खरीदना उनमेंसे बहुतोंकी समझमें अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है।

अथ च, कहानी-लेखकके विरुद्ध अभियोगका अन्त नहीं है। वे अच्छी पुस्तकें नहीं लिखते। मुझसे अगर कोई प्रश्न करे कि क्यों नहीं लिखते, तो मैं कहूँगा कि जिनमें शक्ति है, वे आज धनके अभावसे, दारिद्र्यकी मारसे ऐसे पिस गये हैं कि अच्छा लिखनेकी इच्छा रहनेपर भी उनको न अवसर प्राप्त है और न उनका जी ही चाहता है।

इसका प्रतिकार सबसे पहले होना चाहिए। सबसे पहले हमारे देशके साहित्यिकोंका अभाव दूर करनेकी—उनकी जरूरतें पूरी करनेकी—व्यवस्था करनी होगी; जिससे वे अच्छा लिख सकें, उसके अनुकूल वातावरणकी सृष्टि करनी होगी। तभी बंगला-साहित्य जीवित रहेगा, नहीं तो अचिर भविष्यमें उसकी क्या दशा होगी, यह भगवान् ही जानते हैं।

हमारे देशके बड़े लोग कमसे कम कर्तव्यकी खातिर भी अगर एक-एक पुस्तक खरीदें तो शायद इसके प्रतिकारकी कुछ व्यवस्था हो सकती है। और किताब न खरीदकर भी वे अनेक प्रकारसे सहायता करके बंगला-साहित्यको समृद्ध बना सकते हैं। किन्तु यह क्या वे करेंगे ?

पहलेके जमानेमें बड़े-बड़े राजे-रजवाड़े सभा-कवि रखकर, कवियों और साहित्यिकोंकी वृत्ति बाँधकर, अनेक प्रकारसे देशके साहित्यको बड़ा और उन्नत होनेका सुयोग देते थे। आजकल वह भी नहीं है।

शौकिया साहित्यिकोंकी बात मैं नहीं कहता। भगवान्की कृपासे जिनके पास अन्न-वस्त्रका ठिकाना है, साहित्य जिनकी विलासकी सामग्री है, उनकी बात जुदी है। वे शायद कहेंगे कि अन्न-चिन्ता वल्गर (छोटी बात) है, अतएव उससे साहित्यकी श्री नष्ट होगी; वह चिन्ता बादको भी की जा सकती है।

बादको चिन्ता करनेसे जिनका काम चलता है, वे वही करें। मैं केवल

उन सब भाग्यहीनोकी ही बात कहता हूँ, जिनकी अस्थिमज्जामें साहित्यके प्रति उग्र विषकी क्रिया आरम्भ हो गई है, साहित्यकी सृष्टिमें जिनका जन्मगत अधिकार है, जिनके खूनमें सृष्टिकी उन्मादना है। मैं जानता हूँ कि ये सब हजारों उन्मत्त पागल दारिद्र्यकी लाछनाओंके बीच बैठकर भी लिखेंगे। न लिखनेसे वे जीवित न रहेंगे। इससे जितने दिन वे जीवित रहें, उनके मुँहमें दो मुट्ठी अन्न डाल देना चाहिए। इन सब परायेके लिए उत्सर्ग किये हुए जीवनोकी शिखा यदि अन्नके अभावसे बुझ जाय तो उससे देशका कल्याण न होगा, यह आज आप लोग जान रक्खें।[१]

बंगला पुस्तकोंका दुःख

कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशयकी वक्तृता सुनकर और कुछ हो या न हो, कमसे कम एक उपकार हम लोगोंका हुआ है। योरपकी लाइब्रेरियोंके सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ कहा, उसकी बहुत-सी बातें शायद हमें याद नहीं रहेंगी; किन्तु आज उनकी वक्तृता सुनकर हमारे मनमें आकुलता पैदा हो गई है। योरपके ग्रन्थगारोंकी दशा जैसी उन्नत है, वैसी दशा हमारे देशमें कब होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। तो भी जितना कुछ होना सम्भव है, उसके लिए हमें चेष्टा करनी चाहिए। चारों ओरसे यह अभियोग सुनाई पड़ता है कि "हम लोगोंके पुस्तकालयोंमें अच्छी पुस्तकें नहीं, है केवल निकम्मे उपन्यास। हमारे लेखक ज्ञानसे भरी पुस्तकें नहीं लिखते। वे केवल उपन्यास-कहानी ही लिखते हैं।" किन्तु वे लिखेंगे कहाँसे? इन अतिनिन्दित उपन्यास-कहानी लेखकोंके दैन्य-दारिद्र्यकी सीमा नहीं है। बहुतोंके ही उपन्यासोंके दुबारा छपनेकी नौबत नहीं आती। जो कुछ लाभ होता भी है, वह किसके पेटमें समा जाता है, यह न कहना ही अच्छा। शायद बहुत लोगोंको इसकी धारणा ही नहीं है कि ये सब लेखक कितने निःस्व, कितने असहाय हैं।

---

१. वास्तवमें यह लेख पहले बंगला सन् १३४२ के भादों या आश्विनमें 'शनिवारेर चिठी' पत्रमें प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'मोमज्जिन' नामके मासिकपत्रमें इसे स्थान मिला—ऐसा जान पड़ता है।

किन्तु विलायतमें उपन्यास-कहानी लिखनेवालोंकी दशा और प्रकारकी है। वे धनी है। उनमेंके एक-एक आदमीकी आमदनी इतनी है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थोड़े ही समयके भीतर उनकी पुस्तकोंके संस्करणपर संस्करण होते हैं। कारण, उस देशमे कमसे कम सामाजिकताके खयालसे भी लोग पुस्तकें खरीदते है। किन्तु हमारे देशमे यह झंझट नहीं है। उस देशमे घरमे लाइब्रेरी रखना एक आभिजात्यका परिचय या लक्षण है। सभी शिक्षित लोगोको पुस्तके खरीदनेका अभ्यास है। न खरीदनेसे निन्दा होती है—शायद कर्तव्यमे भी त्रुटि होती है। फिर अच्छी हैसियतके लोगोकी तो बात ही जुदा है। उनमेसे हर एकके ही घरमे एक-एक बड़ा पुस्तकालय है। पढ़नेवाले हो चाहे न हो, पुस्तकालय रखना ही जैसे एक सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु हम अभागी जातिके है। हमारे शिक्षित लोगोके बीच भी पुस्तकोंका प्रचलन नहीं है। बहुतसे लोग तो शायद मासिक पत्रिकाओंके पृष्ठोंसे समालोचनाके बहाने केवल गाली-गलौजके उपकरण ही संग्रह करते हैं। अगर पता लगाइये तो देख पाइएगा कि उनमेंसे बहुतोंने ही मूल पुस्तक नहीं पढ़ी। मैं खुद भी एक साहित्य-व्यवसायी हूँ। विभिन्न स्थानोसे मेरी पुकार होती है। अनेक बड़े-बड़े लोगोके घर जाना पड़ता है। पता लगाकर देखा है, उनके सभी कुछ है—नहीं है तो केवल पुस्तकालय। पुस्तक खरीदना उनमेसे बहुतोंकी दृष्टिमे ही अपव्ययके सिवा और कुछ नहीं है। जिनके यहाँ पुस्तकालय है भी तो वे कई एक चटकीली-रंगीन सुनहली जिल्दकी किताबें बाहरकी बैठकमे सजाये रखते है। लेकिन बंगलाकी पुस्तकें बिलकुल ही नहीं खरीदते।

इसीसे बंगालमे—जिसे आप ज्ञानगर्भ पुस्तक कहते हैं—नहीं होती, और इसीसे प्रकाशक लोग छापना नहीं चाहते। वे कहते है—इन सबकी कोई माँग नहीं है, ले आओ उपन्यास-कहानी। लोग सोचते हैं, कहानी या उपन्यास लिखना बहुत ही सरल सहज है। मोहल्लेके शुभचिन्तक लोग जैसे अक्षम आत्मीयको परामर्श देते हैं कि तुझसे और कुछ न होगाः जा, होमियोपैथीका धन्धा कर। अथ च, होमियोपैथी चिकित्साके समान कठिन काम कम ही है। इसका कारण यह है कि जो चीज सबसे कठिन है, उसीको बहुत लोग सबसे सहज समझ लेते हैं। जैसे भगवान्‌के सम्बन्धमे बातें कहते लोगोको देखता हूँ।

उनके सम्बन्धमें आलोचना करनेमें कभी किसीमें विद्या और बुद्धिका अभाव नहीं जान पड़ता !

कहानी-उपन्यास लिखनेवालोंके विरुद्ध अभियोग करनेसे क्या होगा ? रुपयोंके अभावसे कितनी बड़ी-बड़ी कल्पनायें कितनी बड़ी-बड़ी प्रतिभायें नष्ट हो जाती हैं, इसकी खबर कौन रखता है ? जवानीमें मेरी एक कल्पना थी—एक उच्च आशा थी कि 'द्वादश मूल्य' नाम देकर मैं एक पुस्तक-माला तैयार करूँगा। जैसे—सत्यका मूल्य, मिथ्याका मूल्य, मृत्युका मूल्य; दुःखका मूल्य, नरका मूल्य, नारीका मूल्य—इसी तरह मूल्यका विचार उसमें होगा। उसीके भूमिकास्वरूप उन दिनों मैंने 'नारीका मूल्य'[1] लिखा था। वह बहुत दिनतक अप्रकाशित पड़ा रहा। बादको 'यमुना' पत्रिकामें प्रकाशित अवश्य हुआ, किन्तु फिर वह 'द्वादश मूल्य' नहीं लिख सका। उसका कारण धनका अभाव ही था। मेरे जमींदारी नहीं है, रुपये नहीं हैं। यहाँतक कि उन दिनों दो वेला भोजन जुटानेके लिए भी पैसे नहीं थे। प्रकाशकोंने उपदेश दिया कि यह सब नहीं चलेगा। तुम इसकी अपेक्षा किसी तरह जोड़जाड़कर दो-चार कहानियाँ लिख दो—उनकी हजार कापियाँ बिक जायँगी। हमारी जातिकी विशेषता कहिए या दुर्भाग्य ही कहिए, पुस्तक खरीदकर हम लेखकोंकी सहायता नहीं करते। यहाँ-तक कि जो मालदार हैं, खरीद सकते हैं, वे भी नहीं करते। बल्कि अभियोग करते हैं कि कहानी-उपन्यास लिखकर क्या होगा ? अथ च, आज अन्तःपुरमें जो थोड़ा-बहुत स्त्री-शिक्षाका प्रचार हुआ है, वह इन कहानी-उपन्यासोंके ही द्वारा।

कितने ही बड़े-बड़े कवि उत्साहके अभावसे नाम नहीं कर पाये। परलोकगत सत्येन्द्र दत्तके शोक-दिवसमें जाकर देखा था कि बहुत-से लोग सचमुच रो रहे हैं। तब अत्यन्त क्षोभके साथ मैंने कहा था—कड़ी बात कहनेका मुझे अभ्यास है, ऐसे क्षेत्रमें बीच-बीचमें कड़ी बातें कहता भी रहता हूँ—उस दिन मैंने कहा था कि इस समय आप लोग रोकर आँसुओंकी धारा बहा रहे हैं; लेकिन क्या आपको मालूम है कि बारह वर्षमें उनकी पाँच सौ पुस्तकें भी नहीं बिकीं ? मैं

---

१ देखिए शरत्-साहित्य, भाग १५।

समझता हूँ वहुत लोग उनकी सब पुस्तकोंके नामतक नहीं जानते। अथ च, आज आये हैं आँसू वहाने!

हमारे वड़े लोग यदि कमसे कम सामाजिक कर्तव्य समझकर भी पुस्तकें खरीदें, अर्थात् जिससे देशके लेखकोंकी सहायता हो, ऐसी चेष्टा करें, तो उससे साहित्यकी उन्नति ही होगी। लेखक लोग उत्साह पावेंगे, पेटभर खानेको पावेंगे और वे खुद तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़नेका अवसर पावेंगे। इसके फलस्वरूप उनके ज्ञानकी वृद्धि होगी। तभी तो वे 'ज्ञानगर्भ' पुस्तकें लिख सकेंगे।

राय महाशयकी वक्तृता सुनकर और एक वात विशेषतासे हम लोगोंकी नजरमें आई है। वह यह कि उस देशकी जो कुछ उन्नति या भलाई हुई है, वह उस देशके जनसाधारणने की है। वे मस्त आदमी हैं। उन्हींके मोटे-मोटे दानोंसे वहाँ वड़ी-वड़ी संस्थाएँ स्थापित हुई हैं। हम अक्सर ही सरकारको गालियाँ देते हैं—वुरा-भला कहते हैं। किन्तु यह हमारे ही देश-वन्धुकी स्मृतिका भाण्डार कितना भरा है? उसमे कितना दान आया है? उन्होंने देशके लिए कितना काम, कितना त्याग किया है? उनकी स्मृतिकी रक्षाके लिए कितने आवेदन-निवेदन निकले? किन्तु वह भिक्षा-पात्र आज भी आशाके अनुरूप नहीं भरा। अथ च, इंग्लैंडमें 'वेस्ट मिन्स्टर एवी'का एक कोना जव एक जगह च्पिटकने लगा, तव वहाँके डीनने वीस लाख पौंडके लिए एक अपील निकाली। कुछ महीनोंके भीतर ही इतना रुपया आ गया कि अन्तको वह इस फण्डको वन्द करनेके लिए वाध्य हुए। अथ च, दाताओंने अपने नामका ढिंढोरा पिटवानेके लिए वह दान नहीं दिया था, यह स्पष्ट है: क्योंकि अखवारोंमें किसी दाताका नाम नहीं निकला। इतना तभी सम्भव होता है, जव लोगोंका मन स्वदेशके सम्वन्धमें सजग रहता है।

मेरी प्रार्थना है कि कुमार मुनीन्द्रदेव राय महाशय दीर्घजीवी हों, उनका प्रारम्भ किया हुआ यह काम उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करे। उनकी वातें सुनकर हम लोगोंके मनमें एक आकुलता जागे। जिसकी जितनी शक्ति है, वह इस लाइब्रेरी-आन्दोलनके लिए वही दे तो देशका काम वहुत अग्रसर हो जायगा।

शायद हम लोग अपनी आँखोंसे उसे देखनेका अवसर न पावेंगे; किन्तु आशा होती है कि आज जो तरुण हैं, जो अवस्थामें छोटे हैं, वे निश्चय ही इस कामका कुछ फल देख पावेंगे।

'कोन्नगर-पाठचक्र'की चेष्टासे ये जो सब मूल्यवान् बातें सुनी गईं, इसके लिए वक्ता और सदस्योंको मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ। आज मुझे बड़ा आनन्द मिला, शिक्षा मिली, मनमें व्यथा भी पाई। कहाँ योरप और कहाँ हम लोगोंका यह दुर्भाग्य देश! यहाँ युगयुगान्तरके पाप जमा हैं। एकमात्र भगवान्की विशेष करुणाके सिवा रक्षा या परित्राणकी और कोई आशा नहीं दिखती।

शेष-प्रश्न

कल्याणीयासु—

हाँ, 'शेष-प्रश्न' को लेकर आन्दोलनकी लहर मेरे कानोंतक आई है। कमसे कम जो अत्यन्त तीव्र और कटु हैं, वे कहीं संयोगवश मेरी आँखों और कानोंमें पड़नेसे रह न जायँ, इसकी ओर मेरे जो अत्यन्त शुभचिन्तक हैं, उनकी तेज नजर है। ऐसे लेखोंको बड़े यत्नसे संग्रह करके लाल-नीली-हरी-बैंगनी अनेक रंगोंकी पेंसिलोंसे निशान लगा-लगाकर उन्होंने डाक द्वारा, महसूल देकर, बड़ी सावधानीसे भेज दिया है। और बादको अलग चिट्ठी लिखकर खबर ली है कि मुझतक पहुँचे या नहीं। उनका आग्रह, क्रोध और समवेदना हृदयको स्पर्श करती है।

खुद तुमने अखबार तो नहीं भेजे, किन्तु तुम्हें भी कम क्रोध नहीं आया। समालोचकके चरित्र, रुचि, यहाँतक कि पारिवारिक जीवनपर भी तुमने कटाक्ष किया है। एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि कड़ी बात कह सकना ही संसारमें कठिन काम नहीं है! मनुष्यका अपमान करनेसे अपनी मर्यादाको ही सबसे

१- कोन्नगर-पाठचक्रकी बैठकमें सभापतिका अभिभाषण। 'विचित्रा' मासिक पत्रिका (आश्विन, १३४२ बंगला सन्) में प्रकाशित।

अधिक चोट पहुँचती है। जो लोग जीवनमे यह भूल जाते हैं, वे एक बड़ी बात भूल जाते हैं। इसके सिवा, ऐसा भी तो हो सकता है कि 'पथेर-दावी' और 'शेष-प्रश्न' उनको सचमुच ही बुरा लगा हो। दुनियामे सभी पुस्तके सभीके लिए नहीं हैं। फिर ऐसा तो कोई बँधा हुआ नियम नही है कि वे सभीको अच्छी लगे और सभी प्रशंसा करे। हॉ, वह बात प्रकट करनेका ढग अच्छा नही बन पड़ा, यह मैं मानता हूँ। भाषा अकारण रूढ़ और हिंस्र हो उठी है; किन्तु यही तो रचना-शैलीकी बड़ी साधना है। मनके भीतर क्षोभ और उत्तेजनाका यथेष्ट कारण रहनेपर भी भले आदमीको असंयत भाषाका प्रयोग नही करना चाहिए—यह बात बहुत दिनोंमे बड़े दुःख उठाकर मनमे बैठानी होती है। अपनी चिट्ठीमे तुमने यह भूल उनसे भी अधिक की है। इतनी बड़ी आत्म-अवमानना और नहीं है।

भाव या ढंगसे जान पड़ता है, तुमको कालिज छोड़े अभी थोड़े ही दिन हुए हैं। तुमने लिखा है, तुम्हारी सखियोंके मनका भी यही भाव है। यदि है, तो दुःखकी बात है। यह मेरा लेख अगर तुम्हारे हाथमे पड़े तो उनको दिखाना। शीलता स्त्रियोंका बड़ा आभूषण है। यह अपनी सम्पत्ति किसीके लिए, किसी बातके लिए भी नही छोड़नी चाहिए।

तुमने जानना चाहा है कि मै इन सब बातोका जवाब क्यो नहीं देता? इसका उत्तर यह है कि मेरा जी नहीं चाहता; क्योकि यह मेरा काम नहीं है।—आत्मरक्षाके बहाने भी मनुष्यका असम्मान करना मुझसे नहीं होता। देखो न, लोग कहते है कि मै पतिताओका समर्थन करता हूँ। समर्थन मै नहीं करता; केवल उनका अपमान करनेको ही मेरा मन नही चाहता। मै कहता हूँ कि वे भी मनुष्य हैं, उन्हे भी फरियाद करनेका अधिकार है और महाकालके दरबारमे इसका विचार एक दिन अवश्य होगा। अथ च, सस्कारोसे अन्धे हो रहे लोग इस बातको किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते।

किन्तु ये सब मेरी निहायत व्यक्तिगत बातें है। और नहीं कहूँगा। हॉ, इस सम्बन्धमे और एक बात कह देना शायद अच्छा होगा। तुम लोग शायद तब छोटे होगे। अब जिसका अस्तित्व नही है, ऐसे एक मासिकपत्रमे उस

समय रवीन्द्रनाथपर और उनका भक्त शिष्य कहकर मुझपर भी महीने-महीने बराबर आक्रमण हो रहे थे, गाली-गलौज और व्यंग्य-विद्रूपकी कोई सीमा न थी; अध्यवसाय अथवा तत्परता भी वैसी ही जोरदार थी। किन्तु कवि चुप थे। मैंने परेशान होकर एक दिन अभियोग किया तो कविने शान्त कण्ठसे कहा था—"उपाय क्या है! जिस शस्त्रको लेकर वे लोग लड़ाई करते है, उस शस्त्रको मै हाथसे छू भी तो नहीं सकता।" और एक दिन ऐसी ही किसी बातके उत्तरमे उन्होंने कहा था—"जिसकी बड़ाई नहीं कर सकता, उसकी निन्दा करनेमें भी मुझे लज्जा लगती है।"

उनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है किन्तु सबसे बड़ी ये दो बाते मै कभी नहीं भूला। आज जीवनके पचपन वर्ष पूरे करके कृतज्ञ चित्तसे स्मरण करता हूँ कि मै ठगाया नही। बल्कि मेरे अनजानमें ही लाभके खातेमें बहुत-कुछ जमा हो गया है। मनुष्यकी श्रद्धा पाई है, प्यार-प्रेम पाया है। वास्तवमें यही तो कल्चर (संस्कृति) है—नहीं तो इसके क्या और कोई माने है! भाषापर मुझे जो कुछ अधिकार है—शायद थोड़ा-सा है भी—उसे क्या आखिरी वक्तमे इस दुर्गतिमें खींचकर नीचे गिराऊँगा?

अब साहित्यके सम्बन्धमे तुम्हारे बड़े प्रश्नका उत्तर देता हूँ।

तुमने संकोचके साथ प्रश्न किया है—

"बहुत लोग कहते हैं कि आपने 'शेष-प्रश्न' मे एक विशेष मतवादका प्रचार करनेकी चेष्टा की है। यह क्या सत्य है?"

सत्य है या नहीं, मै नहीं कहूँगा। किन्तु 'प्रचार किया—प्रचार किया, बुरा किया' कहकर शोर मचा देनेसे ही जो लोग लज्जासे सिर नीचा कर लेते है और 'नही-नहीं' कहकर ऊँचे स्वरसे प्रतिवाद करने लगते हैं, उनमे मै नहीं हूँ। अथ च, उलटे यदि मै ही पूछूँ कि इसमें भला इतना बड़ा अपराध हुआ क्या, तो मेरा विश्वास है कि वादी-प्रतिवादी कोई भी उसका सुनिश्चित उत्तर न दे पावेगा। तब एक पक्ष अबूझकी तरह गर्दन टेढ़ी करके केवल यही कहता रहेगा—वह नहीं होता—वह नहीं होता। उससे art for art's sake (कला कलाके लिए) नीति जहन्नुममें जाती है। और दूसरे पक्षकी अवस्था होगी हम लोगोंके हरिकी-सी। इसका एक क़िस्सा है। मेरे एक

दूरके नातेकी बहनके लगभग चार वर्षके एक लड़केका नाम हरि है। वह पूरा शैतान है। मार-पीट, गाली-गलौज, एक पैरसे कोनेमें खड़ा कर देना आदि किसी भी उपायसे उसकी माँ उसे ठीक नहीं कर सकी। घरभरके लोगोंने जब एक तरहसे उससे हार मान ली तब अचानक यह तरकीब किसे सूझी, मालूम नहीं, लेकिन इससे हरि बाबू एकदम शाइस्ता हो गये। केवल यही कहना पड़ता था कि अबकी मोहल्लेके चार भले आदमियोको जमा करके इसका अपमान करो। अपमानके बारेमें उसकी क्या धारणा थी, यह वही जाने; किन्तु अपमानके नामसे वह काँप उठता था। देखता हूँ, इन लोगोकी भी वही दशा है। एक बार कह देनेसे मतलब कि प्रचार किया है और art for art's sake नहीं हुआ। किन्तु मैंने क्या प्रचार किया है, कहाँ किया है, उसमें क्या दोष है, उससे कौन-सा महाभारत अशुद्ध हो गया—ये सब प्रश्न ही अवैध हैं। तब कोई गालियाँ देने लगा, कोई हाथ जोड़कर भगवान्‌की आराधनामें लग गया—"रूपकार यदि संस्कारक हो उठे तब हे भगवान्' 'इत्यादि इत्यादि।" जान पडता है, वे लोग सोचते है कि अनुप्रास ही युक्ति है और गाली-गलौज ही समालोचना है। उनसे यह बात नहीं कही जा सकती कि जगत्‌का जो चिरस्मरणीय काव्य और साहित्य है, उसमे भी किसी-न-किसी रूपमे यह चीज है। रामायणमें है, महाभारतमे है, कालिदासके काव्य-ग्रन्थोमें है, बंकिमके आनन्दमठ और देवी चौधरानीमे है? इब्सेन-मेटरलिक-टाल्सटायमे है, हक्सून-बोअरबेल्समे है। किन्तु इससे क्या? art for art's sake का यह नारा यहाँ पश्चिमसे आया है। यह सब जैसे उनके नखाग्रमे है। कहते हैं—कहानीका कहानीपन ही मिट्टी है; कारण, उससे चित्तका रंजन जो नहीं हुआ! अरे भाई, किसका चित्तरंजन? मेरा! गाँवमें मुखिया कौन है? मै और मेरा मामा!

तुमने 'चित्तरंजन' शब्दको लेकर बहुत-कुछ लिखा है: किन्तु यह एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि इसमे दो शब्द है। केवल 'रंजन' नहीं, 'चित्त' नामकी भी एक चीज है और वह चीज बदलती है। चित्पुरके दफ्तरीखानेमें 'गुलबकावली'की जगह है। उस तरफ वह चित्तरंजनका दावा रखती है। किन्तु उस दावेके जोरसे बर्नार्ड शॉको गाली देनेका अधिकार तो

उसे नहीं मिल जाता। मै स्वीकार करता हूँ कि नारा दोहरानेका मोह होता है, उसके व्यवहारमे आनन्द है, पण्डित जैसा देखनेमें भी लगता है; किन्तु उसकी उपलब्धि करनेके लिए दुःख स्वीकार करना पड़ता है। अमुक for अमुक sake कह देनेसे ही सब बातोंका तत्त्वनिरूपण नहीं हो जाता।

अनेक कारणोंसे 'पथेर दावी' रवीन्द्रनाथको अच्छी नहीं लगी। यह बात जताकर भी उन्होने अपनी चिट्ठीके अन्तमे लिखा था—"यह उपन्यास एक 'प्रबन्ध'के आकारमे लिखनेसे इसका मूल्य साधारण ही रहता; किन्तु उपन्यासके भीतर जो तुमने कहा है, उसका देश और कालमें इसकी व्याप्तिका विराम न रहेगा।" अतएव कविने अगर इसे एक कहानीकी पुस्तक समझा हो, तो यह कहानीकी ही पुस्तक है। कमसे कम इतना-सा सम्मान उनको देना।

अन्तमें तुमसे एक बात कहता हूँ। समाज-संस्कारकी कोई दुरभिसंधि मेरी नहीं है। इसीसे, इस पुस्तकके भीतर मनुष्यके दुःख और वेदनाका विवरण है, समस्या भी शायद है, किन्तु समाधान नहीं है। यह काम दूसरोंका है, मैं केवल कहानी-लेखक हूँ, इसके सिवा और कुछ नहीं।

एक विनती है। तुम अपरिचिता हो। अवस्थामे भी शायद बहुत छोटी हो। सरल मनसे तुम्हारे नाना प्रश्नोंके दो-एक जवाब यथाशक्ति दे दिये हैं। तो भी, इच्छा न रहनेपर भी, दो-एक जगह अगर कुछ कड़ा लिख दिया हो तो नाराज मत होना।[1]

आधुनिक साहित्यकी कैफियत

...मैंने लक्ष्य किया है कि साहित्य-रचनाके कामको फिजूल समझकर जिन लोगोंने समालोचनाके काममे मन लगाया है, उनके वक्तव्य प्रधानरूपसे दो है।

पहला यह कि बंगला भाषाके समान भाषा और किसकी है? हमारे

---

१. सुमदभवनकी श्रीमती मेनको लिखा गया पत्र। 'बिजली'के छठे वर्षकी तेरहवीं संख्यासे उद्धृत।

साहित्यने विश्व-साहित्यमें स्थान पाया है—हमारे साहित्यको 'नोवल प्राइज' मिला है। यहाँतक कि विलायतके साहवतक यह वात कहते हैं कि हम लोगोका साहित्य वहुत अच्छा है। पचास वर्षके वीच इतनी वड़ी उन्नति किसी और देशने कव की है?

दूसरा वक्तव्य यह है कि वंगला-साहित्य डूव गया—रसातलको चला गया, अव नहीं वच सकता। कूड़ा-कर्कटसे वंगला-साहित्य लद गया है; हमारी वात कोई नहीं सुनता। हाय! हाय! वंकिमचन्द्र जीवित नहीं है, मुद्गर कौन मारेगा? ढेरके ढेर नाटक, उपन्यास और कविता-ग्रन्थ निकल रहे हैं। उनमें सुशिक्षा नहीं है, उनमें खालिस दुर्नीति भरी है। इसका कुफल भी स्पष्ट देखा जा रहा है। कारण, पुरातत्त्वकी जो सव पुस्तकें अव भी लिखी नहीं गई है, उनके प्रति पाठकोंका आग्रह नहीं देखा जाता और इतिहास, विज्ञान आदिकी अच्छी-अच्छी पुस्तके पाठकोंके उत्साहके अभावसे लिखी ही नहीं जा रही हैं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि जो सव कितावें लिखी नहीं गईं, उन्हें न पढ़नेका प्रायश्चित्त क्या है, यह मैं नहीं जानता, और पाठकोंके आग्रहके अभावसे जो सव पण्डितोंका पुस्तक लिखना वंद पड़ा है, इसका ही क्या उपाय है, यह भी मुझे नहीं सूझता। किन्तु ढेरकी ढेर पुस्तकें लिखनेके सम्वन्धमें मुझे कुछ कहना है और जान पड़ता है कि कहनेका साधारण अधिकार भी है।

जो लोग यह अभियोग उपस्थित करते हैं, उन्होंने क्या कभी हिसाव लगाकर देखा है कि वास्तवमें कितनी पुस्तकें हर महीने प्रकाशित होती हैं? भले और वुरे मिलाकर आजतक जितने नाटक, उपन्यास और कविता-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनकी सख्या कितनी है? मैं जानता हूँ कि वंगीय साहित्यने विश्व-साहित्यमें स्थान पाया है; किन्तु केवल हम ही तो नहीं हैं, और भी तो कोई-कोई हैं, जिन्होंने हमारी ही तरह विश्व-साहित्यमें स्थान पाया है। उनके नाटक-उपन्यासोंकी तुलनामें कितने नाटक और उपन्यास वंगलामें हैं? कविताकी पुस्तकें ही भला कितनी निकली हैं? नाटक-उपन्यासोंसे वंगदेश प्लावित हो गया—यह 'नारा' किसने लगाया था, मैं नहीं जानता। किन्तु देखता हूँ; जो कोई भी अपनेको वंग-साहित्यका विचारक मान लेता है, वही इस नारेको विना सोचे-विचारे लगाने लगता है; समझता है कि

समझदारके नामसे प्रसिद्धि कमानेका इससे बढ़कर और रास्ता नहीं है। बात-बातमें वे विश्व-साहित्यका उल्लेख करते हैं; किन्तु विश्व-साहित्यसे अगर उनका सचमुचका परिचय होता तो जानते कि जिसे वे कूड़ा-कर्कट कहकर घृणा प्रकट करते हैं, वह कूड़ा ही सभी साहित्योंकी बुनियाद है, वही सब साहित्योंकी अस्थि-मज्जा है। मेघदूत, चण्डीदास, गीताजलि—किसी भी साहित्यमें ढेरके ढेर नहीं पैदा होते। और कूड़ा रहनेके कारण ही इनकी सृष्टि सम्भवपर हुई है: नहीं तो इनकी सृष्टि ही न होती। यह कूड़ेकी बला जिस दिन दूर होगी, उस दिन, जिसको वे लोग सारवस्तु कहते है, वह भी उसी राहसे अन्तर्द्धान हो जायगी। कूड़ा-कर्कट चिरजीवी होकर नहीं रहता; अपना काम करके मर जाता है। यही उसकी सार्थकता है। किन्तु उसी आवर्जना या कूड़ेका बोझ ढोना जिस दिन देश अस्वीकार करेगा, वह दिन आनन्द मनानेका नहीं होगा—वह देशका दुर्दिन होगा।

और यह जो एक बात है कि अच्छी-अच्छी पुस्तकें—अर्थात् इतिहास, ज्ञान विज्ञान आदिकी पुस्तकें नहीं निकलतीं; केवल कविता, केवल उपन्यास निकलते हैं, इस बातका उत्तर क्या कथा-साहित्यके लेखकोंको देना है? वे अधिकसे अधिक यही याद दिला सकते हैं कि बंगदेशकी 'गीताजलि,' बंगदेशके 'घरे बाइरे' (घर बाहर)—अर्थात् कथा-साहित्यने ही विश्वसाहित्यमें आसन प्राप्त किया है।

हालमें एक शोर मचा है कि आधुनिक उपन्यास-लेखकोंने वंकिम-साहित्यको डुबा दिया। वंकिमका साहित्य डूबनेवाला नहीं है। अतएव उनकी यह आशंका वृथा है। किन्तु आधुनिक उपन्यास-लेखकोंके विरुद्ध यह जो शिकायत है कि ये लोग वंकिमकी भाषा, भाव, शैली, चरित्र-सृष्टि, किसी चीजका भी अब अनुसरण नहीं करते हैं, अतएव इनका यह अपराध अमार्जनीय है, इसका जवाब देनेकी जरूरत है। मैं अवस्थामें यद्यपि बूढ़ा हो गया हूँ, किन्तु मेरे साहित्य-व्यवसायने आज भी दस वर्ष उत्तीर्ण नहीं किये। अतएव आधुनिक लेखकोंकी ओरसे मैं उत्तर दूँ तो शायद अन्याय न होगा। इन लोगोंका अभियोग सत्य है, इसे मैं निष्कपट भावसे स्वीकार करता हूँ। वंकिमचन्द्रके ऊपर भक्ति और श्रद्धा

हम लोगोमे किसीकी भी अपेक्षा कम नही है और उसी श्रद्धाके जोरसे हम लोग उनकी भाषा और भावको छोड़कर आगे चलनेमे नही हिचके। मिथ्या-भक्तिके मोहमे पड़कर हम लोग अगर उनकी उस तीस वर्ष पहलेकी ही वस्तुको पकड़े पड़े रहते तो केवल मात्र गतिके अभावसे ही वग-साहित्य मर जाता। देशके कल्याणके विचारसे एक दिन स्वयं उन्होने प्रचलित भाषा और पद्धतिको छोड़कर आगे पैर बढ़ानेमें इतस्ततः नही किया था। उनके उसी निर्भीक कर्तव्य-बोधके दृष्टान्तको ही अगर आज हमने उनके द्वारा प्रवर्तित साहित्य-सृष्टिसे भी बड़ा मानकर ग्रहण कर लिया हो, तो वह उनकी मर्यादाकी हानि करना नहीं है। और अगर सचमुच ही हम उनकी भाषा-शैली, चरित्र-सृष्टि आदि सब-कुछ त्याग कर गये हो, तो उसमे भी दुःख करनेकी कोई बात नहीं है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए मै यहाँ एक दृष्टान्त देता हूँ। उनके 'चन्द्रशेखर'को ले लीजिए। उसमे शैवलिनीके सम्बन्धमें लिखा है—"इस तरह करके प्रेम उत्पन्न हुआ।" यह 'इस तरह' क्या है—नक्षत्रोंको देखना, नावके पाल गिनना, माला गूँथकर गायके सीगोंमे पहना देना; और भी दो-एक बाते है, जो मुझे ठीक याद नहीं। किन्तु उसके बादकी घटना अत्यन्त जटिल है। गंगामे डूबने जानेसे शुरू करके स्वामीका घर त्याग कर जानेतक, सभी निर्भर करता है शैवलिनीके बाल्य-कालमे 'इस तरह' जो प्रेम उत्पन्न हुआ था, उसीके ऊपर। उस समयके पाठक भले आदमी थे, और जान पड़ता है, उस जमानेके साहित्यके गौरवमे इससे अधिक ग्रन्थकारके निकट उन्होंने चाहा भी नही और इस बुरे कामके कारण अन्तमें शैवलिनीको जो सब दण्ड भोगना पड़ा था, उससे वे खुश हो गये थे। किन्तु आजके पाठक अत्यन्त तार्किक है। वे ग्रन्थकारके मुखकी बातपर विश्वास करना नहीं चाहते। वे स्वय विचार करके देखना चाहते है कि शैवलिनी कैसी स्त्री थी, उसके मनमे कितना प्रेम उत्पन्न हुआ था, उत्पन्न होना सम्भव है कि नहीं और इतना बड़ा अन्याय करनेको तत्पर होनेके लिए उस प्रेमकी शक्ति यथेष्ट है कि नहीं। प्रतापने इतना बड़ा काम किया, किन्तु आजकलका पाठक शायद सहज ही कह बैठेगा कि "उसने ऐसा क्या किया है! शैवलिनी पराई स्त्री, गुरुपत्नी थी, उसे अपने घरमे पाकर उसके प्रति अत्याचार नही किया; सो बहुत लोग ऐसा नही करते और करनेसे गहरा अन्याय होता है। और उसकी

युद्धकी आड़में आत्महत्या ? उसमें पौरुष रह सकता है, किन्तु काम अच्छा नहीं है। संसारके ऊपर, अपनी स्त्रीके ऊपर यह जो एक अविचार किया गया है, उसे हम पसन्द नहीं करते। और उसके मानसिक पापका प्रायश्चित्त ? सो आत्म-हत्यामें प्रायश्चित्त काहेका ?" अथ च, उस जमानेमें मैंने लोगोंको यह कहकर आशीर्वाद देते देखा-सुना है कि "तुम प्रताप जैसे आदर्श-पुरुष होओ।" तो क्या मनुष्यकी मति-गति ही बदल गई है ?

और एक चरित्रका उल्लेख करके मैं इस प्रसंगको समाप्त करूँगा। वह है 'कृष्णकान्तेर विल'की रोहिणीका चरित्र। यह बात मैंने क्यों उठाई, यह शायद बहुतोंकी समझमें आ जायगा। उस समयके साथ इस समयका इसी जगह एक भारी विच्छेद हो गया है। रोहिणीके जीवनका अन्त हुआ है पिस्तौलकी गोली-से। इस तरह उसके पापकी सजा न दी जाती तो उसे निश्चय ही काना-खोड़ा होकर काशीकी गलियोंमें 'एक पैसा दो बाबा !' कहकर भीख माँगना पड़ता। उसकी अपेक्षा यह अच्छा ही हुआ कि वह मर गई। उसके मरनेके सम्बन्धमें आधुनिक लेखकों और पाठकोंको आपत्ति हो, यह बात नहीं है। किन्तु आग्रह भी नहीं है। वस्तुतः इस सम्बन्धमें हम लोग बहुत-कुछ उदासीन हैं। पापका दण्ड न रहनेसे ग्रन्थ शिक्षाप्रद न होगा, अतएव दण्ड चाहिए ही। इस 'चाहिए ही' के लिए ग्रन्थकारको जिस जगह अद्भुत उपायका सहारा लेना पड़ा है, उसी जगह हम लोगोंके लिए बड़ी बाधा है। रोहिणीमें गोविन्दलालको प्यार करनेकी जो शक्ति है, वह साधारण नारीमें होना असम्भव है। वह वसीयतनामा बदलने-के लिए कृष्णकान्तसरीखे बाघके घरमें घुसी थी गोविन्दलालका भला करनेके लिए, 'वारुणी'के जलकी तहमें प्राण देने गई थी ऐसे ही प्रियतमके लिए। पर वही रोहिणी जब केवल नीतिमूलक उपन्यासके उपरोधसे ही अकारण और घड़ी-भरके दृष्टिपातमें ही सब भूलकर, और एक अपरिचित पुरुषको गोविन्दलालकी अपेक्षा भी कई गुना सुन्दर देखकर प्राण दे बैठी, तब पुण्यकी जय और पापकी पराजय प्रमाणित करके संसारके लोगोंकी सुशिक्षाके मार्गमें तो शायद बहुत बड़ी सहायता की गई; किन्तु आधुनिक लेखक उसे ग्रहण नहीं कर सका। रोहिणी पापिष्ठा है और उस पापिष्ठाके प्रति हम लोगोंकी कोई सहानुभूति नहीं

है; किन्तु उसके ऊपर भी इतना बड़ा अविचार करनेके लिए हम लोगोंका हाथ नहीं उठता। उस काल और इस कालमें इसी जगह बहुत बड़ा अन्तर है। विधवा रोहिणीका दुर्भाग्य कि उसने गोविन्दलालको प्यार किया था। उसकी दुर्बुद्धि, उसकी दुर्बलता,—किन्तु पापके साथ एक करके, इन सबपर एक साथ एक ही छाप मार देनेका जब अनुरोध आता है, तब उस अनुरोधकी रक्षा करनेको ही हम लोग अकल्याण समझते हैं।

प्रवृत्तिको बुद्धिके बटखरेसे तौलकर साहित्यका मूल्य-निर्देश करनेसे क्या होता है, इसका एक उदाहरण देता हूँ। थोड़ा-सा व्यक्तिगत होनेपर भी इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। 'पल्ली-समाज' (ग्रामीण समाज) नामकी मेरी एक रचना है। उसमे विधवा रमाने रमेशको प्यार किया है, यह देखकर उस दिन एक प्रवीण साहित्यिक और समालोचकने 'साहित्यकी स्वास्थ्यरक्षा' नामक अपने ग्रन्थमे इस तरह रमाका तिरस्कार किया है—"तुम अत्यन्त बुद्धिमती हो न? तुम अपनी बुद्धिके जोरसे पिताकी जमींदारीका तो शासन करती हो; किन्तु अपने चित्तको दमन नहीं कर सकीं? तुम यहाँतक सतर्क-सावधान हो कि रमेशके नौकरके नामसे पुलिसमे रिपोर्ट करा रक्खी, और फिर तुम शिव-पूजा भी करती हो, पर उसकी सार्थकता कहाँ है? तुम्हारा यह पतन बिलकुल ही अपनी इच्छासे हुआ है।" इस अभियोगका क्या कोई उत्तर है? खासकर जब कोई स्वयं साहित्यिक होकर दूसरे साहित्यिकसे इस तरह जवाब तलब करना चाहता है, तब!

वही भला-बुरा, वही उचित-अनुचितका प्रश्न; केवल इसी उचित-अनुचितने गोविन्दलालकी गोलीका लक्ष्य बनाकर रोहिणीको खड़ा किया था। जहाँ प्रेम करना उचित नहीं है, वहाँ प्रेमका अपराध चाहे जितना हो,—विश्वासघातिनीका बहुत बड़ा अपराध मृत्युके समय हतभागिनीके माथेपर बंकिमचन्द्रको दाग ही देना पड़ा। इस असंगत जबरदस्तीको ही आधुनिक साहित्यिक स्वीकार नहीं कर पाता। भला और बुरा संसारमें चिरकालसे हैं, शायद चिरकालतक ही रहेगा। भलेको भला और बुरेको बुरा आधुनिक लेखक भी कहता है; बुरेकी वकालत करनेके लिए कोई साहित्यिक कभी किसी दिन साहित्यकी सभामे खड़ा नहीं होता। किन्तु बहलाकर नीतिशिक्षा देनेको भी

वह अपना कर्तव्य नहीं समझता। दुर्नीतिका भी वह प्रचार नहीं करता। थोड़ा-सा थहाकर देखनेसे उसकी सारी दुर्नीतिके मूलमें शायद यही एक चेष्टा मिलेगी कि वह मनुष्यको मनुष्य ही सिद्ध करना चाहता है।[१]

साहित्यकी रीति और नीति

श्रावण मासकी 'विचित्रा'में विश्वकवि रवीन्द्रनाथने साहित्यके धर्मका निरूपण किया है और उसकी परवर्ती संख्यामें डाक्टर नरेशचन्द्र सेन गुप्तने उक्त धर्मकी सीमा या चौहद्दीका निर्देश करके अत्यन्त श्रद्धाके साथ कविके उदाहरणों-को रूपक और युक्तियोंको विनयके साथ रस-रचना बतलाया है।

दोनोंका मतभेद हुआ है प्रधानतः आधुनिक साहित्यकी आवरू और बेआवरूपन या पर्दा और बेपर्दगीको लेकर।

इस बीच बिना दोषके मेरी अवस्था करुण हो उठी है। नरेशचन्द्रके विरुद्ध दलके सजनीकान्तदासने 'शनिवारेर चिट्ठी' (मासिक) में मेरा मता-मत ऐसा प्राजल और स्पष्ट करके प्रकट कर दिया है कि मेरे थूक घूँटकर, माथा खुजाकर, 'हाँ' और 'ना' एक ही साथ उच्चारण करके पीछे हटकर भागनेके लिए राह ही नहीं रक्खी। एकदम बाघके मुँहमें ठेल दिया है।

इधर विपत्ति यह हुई है कि धीरे-धीरे मेरे भी दो-चार भक्त आ जुटे हैं। वे यह कहकर मुझे उत्तेजित करते हैं कि तुम्हीं कौन कम हो? अपना अभिमत प्रचारित कर दो न!

मैं कहता हूँ, वह मैंने जैसे कर दिया; लेकिन उसके बाद? मैं ठीक किस दलमें हूँ, यह आप ही नहीं जानता; इसके सिवा उस ओर नरेशबाबू जो हैं! वह केवल बहुत बड़े पण्डित ही नहीं हैं, बड़े भारी वकील भी हैं। उनकी जिस जिरहके जोरसे कविके युक्ति-तर्क रस-रचना हो गये, उस जिरहके पेंचमें पड़कर मैं तो एक घड़ी भी नहीं ठहर सकूँगा। कवि तो भी अव्याप्ति और अति-

---

१. १६ आषाढ़ सन् १३३० को शिवपुर-इन्स्टीट्यूटमें, साहित्य-सभाके अधिवेशनमें सभा-पतिके पदसे पढ़ा गया अभिभाषण।

व्याप्तिके कोठेमें पहुँच गये हैं, लेकिन मैं तो शायद व्याप्ति-अव्याप्ति किसीतक भी नहीं पहुँचूँगा; त्रिशंकुकी तरह शून्यमें झूलता रहूँगा। तब ?

भक्तगण कहते हैं—आप डरपोक हैं।

मैं कहता हूँ—नहीं।

भक्त लोग कहते हैं—तो इसे प्रमाणित कीजिए।

मैं कहता हूँ—प्रमाणित करना क्या सहज मामला है ! 'रस-सृष्टि' 'रसोद्-बोधन' आदि शब्दोंकी रस वस्तुके बराबर धुँधली चीज संसारमें क्या कोई और है ? यह केवल रस-रचनाके ही द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, लेकिन फिल-हाल वह समय मेरे हाथमें नहीं है।

यह तो हुई मेरी ओरकी बात। उस ओरकी बात ठीक-ठीक नहीं जानता, किन्तु अनुमान कर सकता हूँ।

प्रियपात्रोंने जाकर कविको पकड़ा—महाशय, हम लोग तो अब पार नहीं पाते, अबकी आप ही अस्त्र धारण कीजिए। ना ना, धनुष बाण नहीं, गदा। घुमाकर फेंक दीजिए इस अति आधुनिक साहित्यिक बस्तीकी ओर। लक्ष्य ? कोई जरूरत नहीं। वहाँ एक साथ बहुत-से रहते हैं।

कविकी वह गदा ही अन्धकारमें आकाशसे गिरी है। इससे ईप्सित-लाभ भले ही न हो, शब्द और धूल बहुत उठी है। नरेशचन्द्र चौंककर जाग उठे हैं और विनीत क्रुद्ध कण्ठसे बारबार प्रश्न करते हैं कि किसको लक्ष्य किया है, बताइए ? क्यों किया है, बोलिए ? हाँ या ना कहिए।

किन्तु यह प्रश्न ही अवैध है। कारण, कवि तो रहते हैं बारह महीनोंमें तेरह महीने विलायत। क्या जानें वह कि कौन हैं तुम लोगोंकी खड्गहस्ता शुचि-धर्मी अनुरूपा[1] और कौन है तुम्हारा वंशी-धारी अशुचिधर्मी शैलजा-प्रेमेन्द्र-नजरुल इसलाम-कल्लोल-काली-कलमका दल[2] ? वह कैसे जान सकते हैं

१. प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका अनुरूपा देवी।

२. शैलजानन्द, प्रेमेन्द्र मित्र आधुनिक रुचिके उपन्यास और कहानी लिखनेवाले हैं। नजरुल इसलाम प्रसिद्ध ओजस्वी भाषा-भाववाले कवि हैं। इनकी गणना प्रथम श्रेणीके कवियोंमें की जाती है। कल्लोल और काली-कलम आधुनिक दृष्टिकोणके नामिक पत्र हैं।

कि कब किस महीयसी जननीने अति आधुनिक साहित्यिकोंका दलन करनेके लिए भविष्यत् माताओंको सौरमें ही सन्तानोको मार डालनेका सदुपदेश देकर नैतिक उच्छ्वासकी पराकाष्ठा दिखाई है और कब शैलजानन्द कुली-मजदूरोंकी नैतिक हीनताकी कहानियाँ लिखकर अपनी कुलीनता (आभिजात्य) खो बैठे हैं। इन सब बातोंको पढ़नेका समय, धैर्य और प्रवृत्ति, कुछ भी तो कविके पास नहीं है; उन्हे बहुत-से काम हैं। दैवसंयोगसे कभी एक आध टुकड़ा-लेख जो उनकी नजरमे पड़ गया है, उसीसे उनकी धारणा हो गई है कि आधुनिक बंगला साहित्यकी आबरू और आभिजात्य, दोनों ही जाते रहे हैं। शुरू हुआ है चितपुररोडके खच-खच-खचाक शब्दके साथ एक ही तरहके पदका पुनः-पुनः चक्कर मारता हुआ गर्जन। आधुनिक साहित्यिकोंके प्रति कविके इतने बड़े अविचारसे केवल नरेशचन्द्रके ही नहीं, मेरे भी विस्मय और दुःखकी सीमा नहीं है।

भक्त-वाक्योंके समान प्रामाणिक साक्षी और क्या होगी? अतएव उनको निश्चय विश्वास हो गया है कि आधुनिक साहित्यमें सत्यके नामसे केवल नर-नारियोंके यौन-मिलनके शारीरिक व्यापारको ही अलंकृत किया जा रहा है। उसमें लज्जा नहीं, शर्म नहीं, श्री नहीं, सौन्दर्य नहीं, रस-बोधका लेश भी नहीं, है केवल फ्रायडका साइको-एनालिसिस (मनोविश्लेषण)। अथ च, यदि वह चाहे जिस साहित्यिकको बुला भेजकर पूछते तो सुन पाते कि उनमेंसे हर एक ही जानता है कि सत्यमात्र ही साहित्य नहीं होता। जगत्में ऐसी अनेक गंदी सत्य घटनायें हैं, जिन्हें केन्द्र करके साहित्यकी रचना किसी तरह नहीं की जा सकती।

कविको एकाएक दीख पड़ा है कि सहिजना, बक, कुम्हड़ा आदिके कई एक फूलोंने काव्यमें स्थान नहीं पाया। गुलाब-जामुनका फूल भी नहीं, यद्यपि वह सब तरहसे सिरिस-फूलके समकक्ष है। कारण? यह कि उन्हे मनुष्य खाता है! रसोईघरने उनकी जाति मार दी है। इसीसे उदाहरणके लिए वह दौड़ गये हैं गंगादेवीके मगरके पास। अथ च, हाथके पास ही वाग्देवीके वाहन हंस (बतख) को मनुष्यने खाकर उजाड़ डाला, इसपर उनकी नजर नहीं पड़ी! कोकाबेलीके फूलके बीजसे भेटकी खीलें बनती हैं; ऐसा सुन्दर जो कमल है,

उसके बीजको भी लोग नहीं छोड़ते—भूनकर खा जाते है। तिलफूलसे नाककी, केलेके वृक्षसे सुन्दरीके जॉघोकी उपमा काव्यमे विरल नही है। अथ च, सुपक्व मर्तमान केलेके प्रति वितृष्णाका अपराध किसी कविके विरुद्ध मैंने नहीं सुना। आज नरेशचन्द्र व्यर्थ ही कविको यह स्मरण कराने गये है कि विंवाफल (कुन्दरू) को अनेक लोग तरकारी बनाकर खाते है। इसके उत्तरमे कवि क्या कहेगे, मै नही जानता; किन्तु उनके भक्त लोग शायद क्रुद्ध होकर जवाव देगे कि खाना अन्याय है। जो खाता है, वह सत्साहित्यके प्रति विद्वेष-बुद्धिके कारण ही ऐसा करता है।

किन्तु इस वातको लेकर लेखकका कलेवर वढाना निरर्थक है। ये बातें युक्ति भी नहीं है, तर्क भी नहीं है और किसी कामकी भी नही है। अथ च, इसी तरहके कई एक असम्वद्ध दृष्टान्त उपस्थित करके कवि सदैव ही कहते हैं कि इसके ऊपर फिर कोई सन्देह ही नहीं रह सकता कि मै जो कहता हूँ वही ठीक है, और तुम जो कहते हो वह गलत है।

किन्तु यह वात भी मैं नही कहता कि आधुनिक वंगला-साहित्यमे दुःख करनेका कोई कारण ही मौजूद नही, अथवा रवीन्द्रनाथका ऐसा मनोभाव एकदम ही आकस्मिक है। उन्हे शायद याद नहीं है, किन्तु कुछ वर्ष पहले मुझसे उन्होने ही एक वार कहा था कि उस दिन उनके विद्यालयके एक १२–१३ वर्षके छात्रने 'पतिता'के सम्बन्धमें एक कहानी लिखी है।

मुझे अपने वचपनकी एक घटना याद आ रही है। हमारे छोटे दादाने एकाएक कवि-यशोलुब्ध होकर काव्यकलामे मन लगाया और वंगला भाषामें गम्भीर भाव प्रकट करनेकी सुविधा नहीं है, यह सोचकर अँगरेजी भाषामे ही कविताकी रचना की। नहीं जानता, कि रचनाकी चोरी की, किन्तु वह कविता मुझे याद है—

A lion killed a mouse
And carried it into his house;
Then cried his mother,
And therefore cried his sister !

(अर्थात् एक शेरने एक चूहेको मारा और उसे वह अपने घरमें उठा ले गया। तब उसकी माँ रोई और उसके बाद उसकी बहन रोई।)

छन्द और भावकी दृष्टिसे कविता अनवद्य है। किन्तु तुमुल तर्क उठा कि मदर किसकी? शेरकी या चूहेकी? बड़ी भाभी साहबाने क्षणभर कान देकर सुननेके बाद कहा—ना ना, उनकी नहीं। कविकी मदर है। भाभी अगर 'पतिता' कहानीकी रचनाका विवरण सुनतीं तो शायद कहतीं कि इस जगह ब्रह्मचर्य-विद्यालयके कर्णधारोंको रोना चाहिए और किसीको नहीं।—यह तो हुआ असाधु साहित्यका पक्ष। फिर सत्साहित्यकी तरफ भी तरुण कवियोंकी कमी नहीं है। इधर जो भी कविता या गीत लिखता है, वही उसमें लिखता है—तुम्हारी वीणा मेरे 'तारों'में बजती है। पत्तोंके बीच-बीचसे तुम्हारी जगमगाती हुई अरूप मूर्तिको देख पाता हूँ, हृदयके भीतर तुम्हारी निःशब्द पग-ध्वनि सुन पाता हूँ। खेवेके घाटपर बैठे-बैठे सन्ध्या हो आई खेवैया! अब पार लगाओ, इत्यादि।

एक उदाहरण दूँ। भाद्रपद मासकी 'केतकी' पत्रिकामें एक गीत छपा है—

तोमार भाँगार गाने तोमाय नेबो चिनि
परान पाति शुनबो पायेर रिनिझिनि।
(तोमार) कालबोशाखीर झड़े तोमाय नेब देखे
(तोमार) श्रावणधारा अगे आमाय नेब मेथे।
(आमार) बूकेर माझे तोमार आघात चिह्नखानि—
आमार रोदनेर माझे तोमार देववाणी।
भूल करे जे भूलबो तोमाय होबे ना ता'
(तोमार) आघात एले कोथाय वा तार
लूकाबो व्यथा?
आमार छड़िये प'ल सकल खाने—
सारा बुके
आमार जड़िये गेल सकल हिया
दुःखे सुखे!
सेथाय आमी तोमाय खूँजे नेब चिनि
(आमार) परान पाति शुनबो नूपुर रिनिझिनि।

[अर्थात्—तुम्हारे बिछोहके गानमें तुमको पहचान लूँगा। हृदय बिछाकर पैरोंकी रुनझुन सुनूँगा। (तुम्हारी) कालवैशाखी[1] की आँधीमें तुमको देख लूँगा। तुम्हारे सावनकी धारा-सदृश अगमें अपनेको लपेट लूँगा। (मेरे) हृदयके बीच तुम्हारे आघातका चिह्न है; मेरे रोदनमें तुम्हारी दैववाणी है। गल्ती करके तुमको भूल जाऊँगा—यह न होगा। तुम्हारा आघात आनेपर उसकी व्यथा कहाँ छिपाऊँगा? मेरे सारे शरीरमें सब जगह, सारे हृदयमें बिखरकर फैल जाओ। मेरा सारा हृदय दुःख और सुखसे जड़ित हो गया! वहाँ मैं तुमको खोजकर पहचान लूँगा। (अपना) हृदय बिछाकर नूपुरोंकी रुनझुन सुनूँगा।]

ऊपर उद्धृत अँग्रेजी कविताकी तरह यह गीत भी अनवद्य है, क्या झंकारमें, क्या भावकी गम्भीरतामें, क्या वैराग्यकी वेदनामें! 'केतकी'के तरुण सम्पादकसे पूछा—लेखककी अवस्था कितनी है? उन्होने बन्धु-गौरवसे मुख उज्ज्वल करके कहा—जी, पन्द्रह-सोलह सालसे अधिक नहीं है!

मन ही मन लम्बी साँस छोड़कर सोचा, देशभरके साहित्यिक बालक-बालिकाओंका दल जब प्रह्लाद हो उठा, तब ओ रे अतिवृद्ध! सिरभरमें श्वेतकेश लेकर अब तू काहेके लिए जीवित है?

साहित्यकी सृष्टि अनुकरणसे नहीं होती। अच्छेकी भी नहीं, बुरेकी भी नहीं। हृदयकी सच्ची अनुभूति आनन्द और वेदनाके आलोड़नसे अलकृत वाक्योंमें विकसित हो उठे बिना की गई रचना साहित्य नहीं कहलाती। वृद्ध कविकी 'गीताजलि' जितना बड़ा काव्य-ग्रन्थ है, उनकी यौवनकी रचना 'चित्रागदा' भी ठीक उतनी ही बड़ी काव्य-सृष्टि है। लांछनाका आघात और गौरवकी माला चाहे जिस तरह क्यों न उनके सिरपर बरसे, अथ च, अनुभूतिहीन वाक्य चाहे जितना अलंकृत क्यों न हो, व्यर्थ है। 'पतिता'का अनुकरण भी व्यर्थ है, 'गीताजलिका'का अनुकरण भी ठीक उतना ही व्यर्थ है। देशकी साहित्य-सम्पत्ति इससे जरा भी नहीं बढ़ती।

---

१. चैत-वैशाखके समयमें बंगालमें प्रायः घोर उमसके बाद आँधी और उसके साथ पानी आता है। यह आँधी-पानी बड़ा घोर होता है। इसी आँधीको कालवैशाखी कहते हैं।—अनु०

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि रस-वस्तुको लेकर मैं आलोचना नहीं कर पाऊँगा। कारण, उसे मैं नहीं जानता। रसिक-अरसिककी संज्ञाका निर्देश करने-में भी असमर्थ हूँ। कविके बोधकी भूख और आत्माकी भूख क्या है और वह कैसे मिटती है, यह समझना-समझाना मेरी पहुँचके बाहर है। किन्तु एक बात जानता हूँ कि काव्य-साहित्य और कथा-साहित्य एक ही वस्तु नहीं है। आधुनिक उपन्यास-साहित्य तो नहीं ही है। 'सोनार तरी' (रवीन्द्र बाबूकी एक कविता) का काम जिससे चलता है, 'चोखेर बाली' (आँखकी किरकिरी) का उससे पूरा नहीं पड़ता। सहिजनके फूल और बक-फूलका 'सोनार तरी'को प्रयोजन नहीं है; किन्तु विनोदिनीके (आँखकी किरकिरीकी 'माया') रसोईघरका काम इनके बिना चल ही नहीं सकता। तेपान्तरमाठ (असीम मैदान) और पक्षीराज (उड़नेवाला पंखसहित) घोड़ा काव्यमें चलता है, किन्तु उपन्यास-साहित्यमें नहीं चलता। यहाँ घोड़ेको चौकड़ी भरनी पड़ती है, पंख फैलाकर उड़नेकी सुविधा नहीं होती।

कविने 'साहित्य-धर्म' शीर्षक लेखमें लिखा है—

"मध्ययुगमें एक समय योरपमें शास्त्र-शासनका बड़ा जोर था। तब विज्ञान-को उस शासनने अभिभूत किया था। सूर्यके चारों ओर पृथ्वी घूमती है, यह कहना उसने मुँह दबाकर बन्द कर दिया था—वह भूल गया था कि विज्ञानके क्षेत्रमें विज्ञानका ही एकाधिपत्य है, उसका सिंहासन धर्मके राजत्वकी सीमाके बाहर है। आजकल इसके विपरीत हुआ है। विज्ञान प्रबल होकर अपनी सीमा मानना नहीं चाहता। उसके प्रभावने मानव-मनके सभी विभागोंमें अपने प्यादे भेज दिये हैं। नूतन क्षमताकी चपरास बाँधकर वे कहीं भी अनधिकार-प्रवेश करनेमें कुण्ठित नहीं होते। विज्ञान पदार्थ व्यक्ति-स्वभाव-वर्जित है, उसका धर्म ही है सत्यके सम्बन्धमें पक्षपातहीन कौतूहल। इस कौतूहलके बेड़ाजालने आज-कलके साहित्यको भी धीरे-धीरे घेर लिया है।"

कविकी इस उक्तिके भीतर बहुतसे अभियोग निहित हैं, अतएव इन बातोंकी थोड़ी-सी परीक्षा करके देखना चाहता हूँ। विज्ञानके प्रति कविकी शायद एक स्वाभाविक विमुखता है। किन्तु विज्ञानका क्षेत्र कहनेसे क्या समझा जाना

चाहिए, यह समझमें नहीं आया। विज्ञान कहनेसे अगर Sex-Psychology (यौन मनोविज्ञान), Anatomy (शरीररचना-शास्त्र) अथवा Gynaecology व्यक्त होता, तो साहित्यके भीतर इसके बे-रोक-टोक प्रवेशमें मैं भी बाधा देता। केवल अवांछित होनेके कारण नहीं, अहेतुक और असंगत होनेके कारण आपत्ति करता। पृथ्वी सूर्यके चारो ओर घूमती है, यह चाहे जितनी बड़ी बात हो, साहित्यके मन्दिरमें इसका प्रयोजन गौण है। किन्तु जिस सुविन्यस्त संयत चिन्तनका फल यह चीज है, वह चिन्तन अगर न हुआ तो काव्यका काम चले तो चले, उपन्यासका काम नहीं चलता। विज्ञान तो केवल पक्षपात-हीन कौतूहलमात्र ही नहीं है; वह कार्य और कारणके सच्चे सम्बन्धका विचार है। चार और चार मिलकर आठ होते हैं और आठमेंसे चार निकाल देनेपर चार रहते है। यही विज्ञान है। इस मनोभावको भय काहेका? किन्तु इसी कारण गन्दगी साहित्यके अन्तर्गत नहीं है, यह बात मैं पहले ही कह चुका हूँ। विज्ञान होनेसे भी नहीं, अविज्ञान होनेसे भी नहीं, सत्य होनेसे भी नहीं, मिथ्या होनेसे भी नहीं। कहानीके बहाने धात्री-विद्या सिखानेको भी मैं साहित्य नहीं कहता; उपन्यासके आकारमें कामशास्त्रके प्रचारको भी मैं साहित्य नहीं कहता। शायद बंगदेशका एक भी अति-आधुनिक साहित्यसेवी यह बात नहीं कहता।

विज्ञानको सम्पूर्ण अस्वीकार करके धर्मपुस्तककी रचना की जा सकती है, आध्यात्मिक कविता लिखी जा सकती है, परियोकी और नानीकी कहानियोंके साहित्यकी रचना न की जा सकती हो,—ऐसा भी नहीं है; किन्तु उपन्यास-साहित्यके लिए यह श्रेष्ठ राह नहीं है। राजाका बेटा गया चौबीस वर्षकी अवस्था और अतिदीर्घ मैदानके दुर्गम मार्गको पार करके किसी राजकन्याकी खोजमें। कोतवालके बेटेकी जासूसी बुद्धि उसमें नहीं है, सौदागरके बेटेकी बनियाई बुद्धि भी नहीं, है केवल रस। जाकर बोला—तुम जो तुम हो, यही मेरे लिए यथेष्ट है। यह मैं जानता हूँ कि इस रसका उपभोग करनेवाले रसज्ञ व्यक्तियोंका संसारमें अभाव नहीं है; किन्तु भिन्नरुचिके लोग भी तो इस संसारमें है? वे अगर जाकर कहें कि हे राजकुमार, तुम्हारे मनमें राजकन्याके रूप-यौवनने स्थान नहीं पाया, दहेजके रूपमें आधा राज्य पानेकी ओर भी तुम्हारा कुछ खयाल

नहीं है, तुम महत् हो—तुम्हारे लिए यही यथेष्ट है कि यह किसी गली-गली सूखा गोबर बटोरनेवालीकी लड़की नहीं है, राजकन्या है—मनस्तत्त्वकी अवतारणा करनेका प्रयोजन नहीं है, किन्तु राजकुमार ! अपने मनकी बात और भी जरा खुलासा करके कहे बिना तो इस ऊँचे दर्जेके रस-साहित्यके समस्त रसकी उपलब्धि हम नहीं कर पा रहे हैं, तब इन लोगोंके मुँहको ही भला कौन हथेली देकर बन्द करेगा ?

इस तरहके दृष्टान्त स्वर्गीय सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्यकी साहित्य-रचनामें पाये जाते हैं। परलोकगत साहित्यिकके प्रति अश्रद्धा प्रकट करनेके लिए मैं इसका उल्लेख नहीं करता, हाथके पास एक अवैज्ञानिक मनोवृत्तिकी असम्भव कल्पनाका उदाहरण मिल जानेके कारण ही कर रहा हूँ। बंगालमें उनके पाठकोंकी संख्या कम नहीं है। मैंने खुद देखा है, मोदीकी दूकानपर एक आदमी ग्रन्थ पढ़ रहा है और बहुतसे आदमी गद्गद होकर आँखोंसे आँसू गिराते हुए वह साहित्य-सुधा पी रहे हैं। निष्ठावान् सच्चरित्र दरिद्र नायक काली माताका स्वप्नमें आदेश पाकर पेड़के नीचेसे खोदकर सात घड़ा सोनेकी मोहरें निकालकर बड़ा आदमी बन गया। लड़का मर गया, किन्तु कोई भय नहीं। मसानमें जटाजूटधारी तेजः-पुंजकलेवर एक सन्यासी अकस्मात् प्रकट हो गये। उनकी कृपासे लड़का चिताके ऊपर 'बप्पा' कहकर उठ बैठा। रसज्ञ श्रोतागण रो-रोकर आकुल हो उठे। उनके पास आनन्द रखनेके लिए जगह नहीं। वहाँ कोई ठेला देकर प्रश्न नहीं करता, क्यों ? किसलिए ? वे कहते हैं—गरीब आदमी अमीर हो गया, यही बहुत है। मरा हुआ लड़का जी उठा, यही हमारे लिए यथेष्ट है। इसीसे हमारे बोधकी भूख, आत्माकी क्षुधा मिटती है। यह अनिर्वचनीय है। इसी प्रकारके साहित्य-रससे हमारे हृदयके वसन्तलोकमें कल्पलताके फूल खिलते हैं।

इसमें कलह करनेका क्या है ? किन्तु मैं अगर यह काम न कर सकूँ, अपने उपन्यासके दरिद्र नायकको काली माताका अनुग्रह जुटानेमें समर्थ न होऊँ, जटाजूटधारी संन्यासीको खोज न पाकर मरे हुए लड़केको जलानेके लिए लाचार होऊँ तो निश्चय जानता हूँ, वे मेरी उस पुस्तकको जलाकर खाक करके छोड़ेंगे। किन्तु उपाय क्या है ? बल्कि, हाथ जोड़कर चतुराननके पास जाकर

करूँगा, ये लोग मेरी और भी कुछ पुस्तकें जला डालें, यह मैं सह लूँगा, किन्तु इन रसज्ञ व्यक्तियोंकी आत्माकी क्षुधा, बोधकी क्षुधा मिटानेका सौभाग्य—"शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"

किन्तु क्यों ? क्यों, इसलिए कि काव्य-साहित्य और कथा-साहित्य एक वस्तु नहीं है। इनका धर्म भी एक नहीं है, धर्मकी चौहद्दी भी एक नहीं है। और मनुष्यके बोधकी क्षुधा और आत्माकी क्षुधाका जाति-भेद इतना गहरा और लम्बा-चौड़ा है कि वैज्ञानिक मनोभावसे नियंत्रित कल्पनाको विसर्जन कर देनेसे प्रायः इनका कोई अर्थ ही नहीं रहता।

कविके कॉकर-पद्मके उदाहरणके बारेमें नरेशचन्द्र कहते हैं, यह युक्ति भी नहीं है, नैयायिकका दृष्टान्त भी नहीं है। अतएव यह रस-रचना है। मुझे जान पड़ता है, उपाख्यान भी हो सकता है। किन्तु अत्यन्त दुरूह है। मैं इसका तात्पर्य नहीं समझ पाया। वास्तवमें, कंकड़ वरणीय है या पद्म वरणीय है, चिड़िया अच्छी है कि मोटरगाड़ी अच्छी है—यह कहना अत्यन्त कठिन है। किन्तु कविने अपने 'साहित्य-धर्म' लेखमें नर-नारीके यौन-मिलनके बारेमें जो कहा है, मुझे जान पड़ता है, उपन्यास-साहित्यमें भी वह बिलकुल ठीक है। जान पड़ता है, उनका वक्तव्य यही है कि वह व्यापार तो है ही। किन्तु मानवके बीच इसके दो भाग हैं। एक दैहिक है और दूसरा मानसिक। एक पाशव और दूसरा आध्यात्मिक। इनमेंसे कौन-सा महल साहित्यमें अलंकृत किया जाय, यही असल प्रश्न है। वास्तवमें यही असल प्रश्न होना चाहिए। नरेशचन्द्र कहते हैं—इसकी सीमाका निर्देश कर दो। किन्तु इसकी क्या कोई सुस्पष्ट सीमारेखा है, जो इच्छा करते ही कोई उँगली उठाकर उसे दिखा देगा ? सब-कुछ निर्भर करता है लेखककी शिक्षा, संस्कार, रुचि और शक्तिके ऊपर। एक आदमीके हाथसे जो रसका झरना है, वही दूसरेके हाथसे कदर्यतासे काला हो उठता है। श्लील, अश्लील, आबरू, बेआबरू, ये सब बहसकी बातें छोड़कर उनका असल उपदेश ही सभी साहित्यिकोंको विनीत भावसे, श्रद्धाके साथ, ग्रहण करना चाहिए। नर-नारीका यौन मिलन ही सब रस-साहित्योंकी नींव है, इस सत्यको कविने अस्वीकार नहीं किया।

तथापि उनके कथनका स्थूल तात्पर्य शायद यह है कि नींवकी तरह वह चीज साहित्यके गहरे और गोपन अंशमें ही रहे। बुनियाद जितनी नीचे और जितनी छिपी या ढकी-मुँदी रहे, इमारत उतनी ही मजबूत होती है। उतना ही शिल्पीकी इच्छाके माफिक उसमें कारु-कार्यकी रचना की जा सकती है। पेड़की जड़ पेड़के जीवन और फूल-फलके लिए चाहे जितनी आवश्यक हो, उसे खोदकर ऊपर निकालनेसे उसका सौन्दर्य भी चला जाता है और प्राण भी सूख जाते हैं। यह कहे विना काम नहीं चलता कि यह सत्य अभ्रान्त है, अवश्य यह प्रश्न जुदा है कि ठीक यही बात आधुनिक साहित्यमें हो रही है या नहीं।

नरेशचन्द्र रवीन्द्रनाथकी रचनाओंसे वहुत-सी नजीरें उद्धृत करके कहते हैं—

"शरीरके सभी व्यापार तो पंगतके बाहर किये जानेके योग्य नहीं हैं; क्योंकि बंकिमचन्द्रसे लेकर रवीन्द्रनाथतक सभी साहित्य-सम्राटोंने साहित्यमें चुम्बनका स्थान पक्का कर दिया है। आलिंगन भी चल गया है।"

किन्तु आलिंगन तो दूर, चुम्बनकी बात भी मैं नितान्त बाध्य हुए बिना अपने उपन्यासोंमें नहीं लिख पाता। उससे कतराकर निकल जा सकनेमें ही मुझे स्वस्ति मिलती है। नर-नारियोंमें यह होता है, यह भी जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि इसका चलन है; यह भी नहीं कहता कि इसमें कोई दोष है; तो भी न जाने क्यों, इसे अपने उपन्यासोंमें स्थान नहीं दे पाता। हमारे समाजमें लोग इस कृत्यको छिपाना चाहते हैं, शायद इसीसे बहुत दिनोंके संस्कारके कारण योरपके साहित्यकी तरह इसके प्रकाश्य Demonstration (प्रदर्शन) में लज्जा मालूम पड़ती है। बहुत सम्भव है, यह मेरी दुर्बलता हो। किन्तु सोचता हूँ, इस दुर्बलताको लेकर ही तो अनेक प्रणय-चित्र मैंने लिपिबद्ध किये हैं, कभी कठिनाई तो नहीं हुई—मुश्किलमें तो नहीं पड़ा। काव्य-साहित्य एक चीज है, कथा-साहित्य दूसरी। 'हृदय-यमुना', 'विजयिनी', 'चित्रांगदा' आदि काव्योंमें चाहे जो घटित हो, मेरा खयाल है, कथा-साहित्यमें मेरी ही तरह कवि भी इस दुर्बलतासे बच नहीं पाये। मैं समझता हूँ, ये सब और ऐसी ही और दो-एक छोटी-मोटी त्रुटियोंकी बात लोगोंके

मुँहसे सुनकर कवि बहुत ही क्षुब्ध हो गये है। 'विदेशकी आमदनी' उक्ति उनके क्षोभकी ही वात है। देश-भेदसे साहित्यकी भाषा भिन्न होती है; किन्तु यथार्थ या सच्चे साहित्यके लिए देश-विदेश नहीं होता, इस सत्यको कवि जानते है, और सबसे अधिक जानते है। यह न होता तो आज दुनियाभरके लोग 'विश्व-कवि' कहकर उनकी इज्जत न करते। कविकी सृष्टि सागरकी तरह अपरिसीम है। नजीरें हैं, तो भी उस सागरसे ही अपने मतके अनुकूल नजीरें निकालकर उन्हे खोंचा देना केवल अविनय ही नही, अन्याय है।

कविने कहा है—

"भारत-सागरके उस पार (अर्थात् योरपमें) अगर प्रश्न किया जाय कि तुम लोगोंके साहित्यमे इतना हट्टगोल (वाजारका शोर-गुल) क्यों है? तो उत्तर पाता हूँ कि यह हट्टगोल साहित्यकी वदौलत नहीं, हाटकी ही वदौलत है। हाट लोगोंसे भर जो गई है। भारत-सागरके इस पार जब प्रश्न पूछता हूँ, तब जवाब पाता हूँ कि आसपास कही हाटका पता जरूर नहीं है; किन्तु हट्टगोल यथेष्ट है। आधुनिक साहित्यकी यही बहादुरी है।"

नही जानता, कविको यह जवाब किसने दिया, किन्तु चाहे जिसने दिया हो, मैं उसकी प्रशंसा नही कर सकता।

नरेशचन्द्र कहते हैं—

"ऐसा नहीं कि हाट जमनेकी थोड़ी-सी चेष्टा नही हो रही है। इसके सिवा हाट जमनेके पहले हट्टगोल साहित्यके इतिहासमे अनेक बार सुना गया है। रूसो और वाल्टेयरने लिखा था, इसीसे फ्रांसके विप्लवकी हाट जमी थी। और आज विश्व-व्यापी भाव-विनिमयके दिनोंमे विलायतमें जो कुछ घटित हुआ है, उसके सम्बन्धमें क्या हम लोग निरपेक्ष रह सकते हैं? जो हाट आज पश्चिममे लगी है, उसमे सौदा करनेका हमारा अधिकार किसी भी पाश्चात्यवासीसे कम नहीं है।

आधुनिक साहित्यके सम्बन्धमे ऐसी स्पष्ट वात ऐसे निर्भय भावसे और किसीने कही है या नहीं, मुझे नही मालूम।

साहित्यके अनेक कामोंमेंसे एक काम है जातिका गठन करना, सब ओरसे उसे उन्नत करना। Idia (विचार) पश्चिमका है कि उत्तरका, यह बड़ी बात नहीं है। स्वदेशका है या विदेशका, यह भी बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात यह है कि उससे भाषाका और जातिका कल्याण होगा या नहीं। 'विदेशकी आमदनी' बात मुर्गी खाने जैसा अपराध नहीं है कि सुनते ही लज्जासे सिर झुकाना होगा। अतएव साहित्यिककी शुभ बुद्धि यदि कल्याणके लिए ही इसकी आमदनीकी जरूरत समझे तो ऐसा कोई नहीं है जो उसका गला दबा सके। चाहे जितना मत-भेद हो, जबरदस्ती रोकनेकी चेष्टासे मंगलकी अपेक्षा अमंगल ही अधिक होता है। किन्तु ये सब बिलकुल मामूली बातें कविको स्मरण करा देनेमें मुझे आप ही लज्जा मालूम पड़ती है। मैं यह अच्छी तरह समझता हूँ कि मेरा ऐसा करना लगभग अनधिकार-चर्चाके समान है, किन्तु बिना कहे भी और कोई उपाय नहीं सूझता।

इस लेखके कलेवरको अब मैं और नहीं बढ़ाऊँगा। किन्तु उपसंहारमें और भी दो-एक बातें सीधे-सीधे कविसे कहूँगा। उनके 'साहित्य-धर्म' प्रबन्धके अंतिम अंशमें भाषा जैसी तीक्ष्ण है, श्लेष भी वैसा ही निष्ठुर है। यह बात कोई अस्वीकार न करेगा कि तिरस्कार करनेका अधिकार एकमात्र उन्हींको है; किन्तु क्या सचमुच ही आधुनिक बंगला-साहित्य रास्तेकी धूल-कीचड़ उठाकर परस्पर एक-दूसरेपर फेंकनेको ही साहित्य-साधना समझता है? शायद कभी कहींपर भूल हो गई है; किन्तु इसीसे क्या समस्त आधुनिक साहित्यके प्रति इतना बड़ा दण्ड कोई सुविचार है?

कविने कहा है—

"उस देशका साहित्य कमसे कम विज्ञानकी दोहाई देकर इस दौरात्म्य या ऊधमकी कैफियत दे सकता है। किन्तु जिस देशमें भीतर और बाहर, बुद्धिमें और व्यवहारमें किसी भी जगह विज्ञानने प्रवेशका अधिकार नहीं पाया…।"

अगर यही सच है तो भारतके लिए दुःखकी बात है, दुर्भाग्यकी बात है। विज्ञानने शायद प्रवेशका अधिकार नहीं पाया, शायद यह वस्तु सचमुच ही

भारतमें नहीं थी; किन्तु कोई एक चीज केवल न होनेके कारण ही क्या सदैव वर्जित होकर रहेगी ? यही क्या कविका आदेश है ?

आगेकी लाइनमें कविने कहा है ?

"उस देशके (अर्थात् बंगालके) साहित्यमे उधार ली हुई नकल निर्लज्जताको किसकी दोहाई देकर छिपावेगी ?"

दोहाई देनेका प्रयोजन नहीं है, छिपाना भी अन्याय है; किन्तु भक्तोंके मुखसे उधार लिये हुए अभिमतको ही संशयहीन सत्य मानकर विश्वास कर लेनेसे क्या न्यायकी मर्यादा खण्डित नहीं होती ?

रवीन्द्रनाथके 'साहित्य-धर्म'का जवाब नरेशचन्द्रने दिया है। उनकी धारणा है कि और अनेक लोगोंकी तरह शायद वह भी कविके एक लक्ष्य है। इस धारणका कारण क्या है, मैं नहीं जानता। उनकी सब पुस्तकें मैंने नहीं पढ़ी। मासिकपत्रोंके पन्नोंमे जो कुछ प्रकाशित होता है, वही केवल देखा है। अनेक स्थानोंपर उनसे मेरा मत मिलता नहीं जान पड़ा। कभी-कभी जान पड़ा है, नर-नारीके प्रेमके मामलेमे वह प्रचलित सुनिर्दिष्ट रास्तेको नॉघ गये हैं; किन्तु वहॉपर भी मैंने अपने मतको ही अभ्रान्त नहीं समझा। यह मैं जानता हूँ कि नरेशचन्द्रके प्रति बहुतसे लोग प्रसन्न नहीं है—किन्तु मत्तताकी आत्म-विस्मृतिमे माधुर्यहीन रुखाईको ही शक्तिका लक्षण मानकर पहलवानीकी धींगामुश्ती करनेके लिए ही वे पुस्तक लिखते है—ऐसा अपवाद मैं नहीं दे सकता। उनके साथ मेरा परिचय नहीं है। कभी उनको देखा है, यह भी याद नहीं पड़ता। किन्तु पाण्डित्यमे, ज्ञानमें, भाषापर अधिकारमे, चिन्तनके विस्तारमे, स्वाधीन अभिमतको अकुण्ठित भावसे प्रकट करनेमे उनके समकक्ष लेखक बंगला-साहित्यमे थोड़े ही है। बंगला-साहित्यके अविसंवादी (सर्वसम्मत) विचारकके हिसाबसे कविका यह कर्तव्य है कि नरेश बाबूकी सब पुस्तकोंको पढ़े; यह स्पष्ट करके दिखावे कि उनके उपन्यासोमे कहॉपर शीलताका अभाव है, कहॉपर वे काव्य-लक्ष्मीके वस्त्रहरणमे लगे है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि कविका लक्ष्य नरेशचन्द्र नहीं, कोई और हो। तब भी मैं समझता हूँ कि उन्हे उस और किसीकी भी सब पुस्तकें पढ़कर देखना चाहिए। मुझे अपने साहित्यिक जीवनकी बात याद आती है। अभी थोड़े ही दिनोंकी तो

बात है। गाली-गलौजकी हद नहीं थी। बहुत-कुछ लिखा है, सबको छुप नहीं कर सका, गलतियाँ भी बहुत-कुछ की है। लेकिन एक भूल नहीं की। चाहे स्वभावसे ही निरीह शान्तिप्रिय आदमी होनेके कारण हो अथवा अपनी अक्षमता-के कारण ही हो, आक्रमणका उत्तर कभी नहीं दिया, किसीपर आक्रमण भी नहीं किया। बहुत दिन हो गये हैं, फिर भी कविको शायद अपनी बात भी याद होगी। संसारमें हमेशा ही कुछ ऐसे लोग रहते हैं जो साहित्यके इसी पहलूको पसन्द करते हैं। अब बूढ़ा हो गया हूँ, मरनेका दिन निकट आ पहुँचा है, गालियाँ अब बहुत कम मिलती हैं। केवल 'पथेर दावी' (पथके दावेदार) लिखकर उस दिन 'मानसी' पत्रिकाके मार्फत एक सरकारी सबडिपुटीकी धमकी मिली है। इस पुस्तकमें कहींपर सोनागाछीका[1] लफंगापन इन अभिज्ञ व्यक्तिकी नजरकी पकड़में आ गया था। खैर, वह चाहे जो हो, हम लोगोंका जमाना तो अब बीतने ही वाला है। अब साहित्यव्रतियोंका एक नया दल साहित्य-सेवाका भार ग्रहण कर रहा है। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे उनको आशीर्वाद देता हूँ। और आगे जितने दिन जिऊँगा, केवल यही काम अपने हाथमें रक्खूँगा।

किन्तु कुछ दिनोंसे देखता हूँ, इन नवीन लेखकोंके विरुद्ध एक प्रचण्ड धावा शुरू हो गया है। क्षमा नहीं है, धैर्य नहीं है, मित्रभावसे भ्रम-संशोधनकी वासना नहीं है; है केवल कटूक्ति, है केवल सुतीव्र वाक्य-बाण-वर्षासे घायल करनेका संकल्प, है केवल देशके आगे, दस आदमियोंके आगे इनको हेय सिद्ध करनेकी निर्दय प्रवृत्ति। केवल मत न मिलनेसे ही वाणीके मन्दिरमें सेवकोंके इस आत्म-घाती कलहमें न गौरव है, न कल्याण है।

विश्व-कविके इस 'साहित्य-धर्म'के अन्तिम अंशका मैं सविनय प्रतिवाद करता हूँ। भाग्यके दोषसे वह मेरे प्रति विरूप हैं—मेरी बातका शायद वह विश्वास न कर सकें; किन्तु मैं उनसे सच-सच निवेदन करता हूँ कि बंगलाके साहित्य-सेवियोंके बीच ऐसा कोई नहीं है, जिसने मन-ही-मन उनको गुरुके आसनपर प्रतिष्ठित नहीं किया। आधुनिक साहित्यके अमंगलकी आशंकासे

---

१. कलकत्तेकी बदनाम वेश्याओंकी गली—अनु०।

जो लोग उनके कानोंके पास 'गुरुदेव' कहकर रोज-रोज विलाप करते हैं, उनमेंसे किसीकी भी अपेक्षा ये (आधुनिक लेखक) कम श्रद्धा नहीं रखते ।[1]

सत्य और मिथ्या

पीतलको सोना कहकर चलानेसे न तो सोनेका गौरव बढ़ता है और न पीतलका । साथ ही पीतलकी भी जाति मारी जाती है । फिर भी संसारमें इसका असद्भाव नहीं है । स्थान-विशेष और समय-विशेषपर सिरपर हैट लगाकर खातिर वसूल की जा सकती है; किन्तु आँखें बन्द करके थोड़ा देखनेकी चेष्टा करनेसे ही यह देखा जा सकता है कि एक ओर यह खातिर जैसे धोखा है, वैसे ही मनुष्यकी लाछना भी अधिक है । तो भी यह चेष्टा बन्द नहीं होती । यह जो सत्यको छिपानेका प्रयास है, यह जो मिथ्याको विजयी बनाकर दिखाना है, इसका केवल तभी प्रयोजन होता है, जब मनुष्य अपने दैन्यको जानता है, अपनी कमीमें लज्जाका अनुभव करता है; किन्तु ऐसी वस्तु चाहता है, जिसपर उसका यथार्थ दावा नहीं है । यह असत्य अधिकार जितना व्यापक और विस्तृत होता जाता है, उतना ही अकल्याणका स्तूप भी प्रगाढ़ और पुंजीभूत होकर बढ़ता रहता है । आज इस अभागे राज्यमें सत्य बोलनेका उपाय नहीं है, सत्य लिखनेकी राह नहीं है—वह सिडीशन (राजद्रोह) है । फिर भी हम देखते हैं कि बड़े लाटसे लेकर अदना सिपाहीतक कहते हैं कि वे सत्यको नहीं रोकते, न्यायसंगत समालोचनाको, यहाँतक कि तीव्र और कटुको भी मना नहीं करते । लेकिन हाँ, वक्तृता अथवा लेख ऐसा होना चाहिए, जिससे गवर्नमेंटके खिलाफ लोगोंके मनमें क्षोभ न पैदा हो, क्रोधका उदय न हो, चित्तके चंचल होनेका कोई लक्षण न दिखाई दे । अर्थात् अत्याचार-अविचारकी कहानी ऐसे ढंगसे कहनी चाहिए, जिससे प्रजा-पुजका चित्त आनन्दसे आप्लुत हो उठे, अन्यायके वर्णनमें भी प्रेमसे गद्गद हो उठे और देशके दुःख-दैन्यकी घटनाएँ पढ़कर उसका देह-मन एकदम स्निग्ध हो

१. 'बंगवाणी' मासिक पत्रिकाकी आश्विन, १३३४ की संख्यासे उद्धृत ।

जाय ! ठीक ऐसा न होनेपर वह राज-विद्रोह है। किन्तु यह असम्भव किस तरह सम्भव किया जाय ? एक दिन मैंने दो पक्के और बहुत ही होशियार एडीटरोंसे पूछा। एकने सिर हिलाकर जवाब दिया—"यह तो भाग्यकी बात है। भाग्य प्रसन्न हो तो सिडीशन नहीं होता, उसके बिगड़ जानेसे ही होता है।" दूसरे महाशयने सलाह दी—"एक मजेकी बात कहूँ ? लेखके आरम्भमें 'यदि' और अन्तमें 'कि नहीं ?' लगाना होता है, और ये दोनों शब्द बिना विचारे सर्वत्र बिखेर दे सकनेपर सिडीशनका डर नहीं रहता।" 'ऐसा ही होगा' कहकर निःश्वास छोड़कर चला आया। किन्तु मेरे लिए एकका परामर्श जैसे दुर्बोध्य हुआ, दूसरेका उपदेश भी वैसा ही अन्धकार जँचा। लिखता-लिखता बूढ़ा हो गया हूँ; अपने ज्ञान, बुद्धि और विवेकके माफिक ही किसी विषयके बारेमे यह ठीक कर सकता हूँ कि वह न्यायसंगत है या नहीं; किन्तु जिसकी आलोचना कर रहा हूँ, उसकी रुचि और विवेचनाके साथ कंधा मिलानेकी दुस्साध्य चेष्टामे कैसे लेखके आदि-अन्तमे 'यदि' और 'कि नहीं' बिखेर कर सिडीशन बचाऊँगा, यह जैसे मेरी बुद्धिके बाहर है, वैसे ही ज्योतिषीके पास जाकर अपना भाग्य जँचाकर तब लिखना शुरू करूँ—यह भी उसी तरह मेरे बूतेका नहीं। अतएव सत्न और मिथ्या निर्णयकी चेष्टामे इनमेंसे कोई भी इस समय मैं न कर सकूँगा। लेकिन यदि जरूरत हुई तो अपने दुर्भाग्यको अस्वीकार न करूँगा।

शायद यह लेख कुछ लम्बा हो जायगा, अतएव भूमिकामें यहीं बात और भी कुछ साफ करके कहनेकी जरूरत है। किसी समय यह देश सत्यवादी होनेके लिए प्रसिद्ध था: किन्तु आज इसकी दुर्दशाका अन्त नहीं है। सत्य वाक्य समाजके विरुद्ध कहना जितना कठिन है, राजशक्तिके विरुद्ध कहना उससे भी अधिक कठिन है। अगर कोई सत्य बात लिखे भी, तो छापनेवाले छापना नहीं चाहते—उनका प्रेस जब्त हो जायगा ! लिखना जिनका पेशा है, जीविकाके लिए देशके समाचारपत्रोंका सम्पादन जिन्हें करना पड़ता है, उन्हें असंख्य आईनोंके सैकड़ो नागपाशोंसे बचकर कितनी कठिनाईसे, दुःखसे पैर रखना होता है ! जान पड़ता है, उन्होंने जैसे प्रत्येक शब्द सिहरते-सिहरते लिखा है। जान पड़ता है, राज-रोषके मारे हर एक पंक्तिके ऊपर होकर जैसे कलमके साथ

उनका क्षुब्ध और व्यथित चित्त बराबर लड़ाई करते-करते ही आगे बढ़ा है। तो भी यदि कहीं उस अति सतर्क भाषाकी सधियों या झिर्रियोंमेंसे सत्यका चेहरा झलक जाता है तो उसकी क्षत-विक्षत विकृत मूर्तिको देखकर दर्शककी भी दोनों ऑखोमें पानी भर आता है। भाषा जिस जगह दुर्बल और शंकित है, सत्य जिस देशमे नकाब डाले बिना मुँह नहीं बढ़ा सकता, लेखकोंका दल जिस राज्यमे इतनी बडी उंछवृत्ति करनेके लिए बाध्य है, उस देशमे राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति सब ही यदि एक-दूसरीका हाथ पकड़े केवल नीचेकी ओर ही उतरती जायँ तो इसमे आश्चर्य होनेकी क्या बात है? जो लड़का अवस्थाके फेरसे स्कूलमे कागज-पेन्सिल चुरानेकी चालाकी सीखनेको लाचार होता है, वह एक दिन बड़ा होनेपर अगर प्राणोंके लिए सेंध लगाना शुरू कर दे, तो उसे आईनके फन्देमे डालकर जेलमे डाल दिया जाता है; किन्तु इससे जो आईनका प्रयोग करता है, उसका महत्त्व नहीं बढ़ता और उसकी निष्ठुरता क्षुद्रताको देखकर दर्शकोंके मनमे भी जैसे सुइयाँ चुभने लगती है।

मैं समझता हूँ, दो-एक दृष्टान्त देनेसे यह बात कुछ और स्पष्ट हो जायगी।

सब देशोंमें सब समयोंमे थिएटर केवल आनन्द ही नहीं देता, लोक-शिक्षामे भी सहायता करता है। बंकिमबाबूका 'चन्द्रशेखर' एक समय नाटकके रूपमे बंगाली रंगमंचपर खेला जाता था। उसमे लिखा है कि लारेन्स फास्टर नामका एक निलहा ॲगरेज बड़ा ही कदाचारी था। उच्च अधिकारियोंको अचानक एक दिन नजर आया कि इसमे क्लास हेट्रेड (वर्ग-विद्वेष) नामकी एक भयानक वस्तु है, जिससे अराजकता फैल सकती है। अतएव फौरन ही उक्त नाटकका खेला जाना बन्द कर दिया गया। थिएटरवालोंने देखा, बड़ी मुश्किल हुई। उन्होंने उच्चाधिकारियोंके दरवाजेपर जाकर धरना दिया। कहा—हुजूर, क्या अपराध हुआ? अधिकारियोंने कहा—लारेन्स फास्टर नाम किसी तरह नहीं चल सकता। यह ॲगरेजी नाम है, इसलिए क्लास हेट्रेड है। थिएटरके मैनेजरने कहा—जो आज्ञा प्रभू! ॲगरेजी नाम बदलकर इस जगह एक पुर्तगीज नाम रक्खे देता हूँ। यह कहकर उसने डिक्रूज या डिसिल्वा ऐसा ही जो कुछ मनमे आया, एक अद्भुत शब्द उस जगह रख दिया और कहा—यह लीजिए।

उच्चाधिकारियोंने देख-सुनकर कहा—और यह 'जन्मभूमि' शब्द भी काट दो—यह सिडीशन है।

मैनेजरने अवाक् होकर कहा—यह क्या हुजूर! इसी देशमें जो हम पैदा हुए हैं!

अधिकारीने खफा होकर कहा—तुम पैदा हो सकते हो; लेकिन मैं नहीं पैदा हुआ। वह नहीं चल सकेगा।

'तथास्तु' कहकर मैनेजर उसे भी बदलकर खेल पास कराके घर लौट आये। अभिनय फिर शुरू हो गया। 'क्लास हेट्रेड' से शुरू करके 'सिडीशन' तक विदेशी राजशक्तिका जो कुछ और जितना भय था, वह सब दूर हो गया और मैनेजर फिर पैसा कमाने लगा। जो लोग पैसा खर्च करके तमाशा देखने आये, वे तमाशेके सिवा और भी थोड़ा-सा संग्रह करके घर लौटे। बाहरसे कहीं कोई त्रुटि नहीं देख पड़ी: किन्तु भीतर-भीतर सारी वस्तु छलना और असत्यकी कालिमासे काली हो गई। लारेन्स फास्टर नामका सम्भवतः कोई व्यक्ति नहीं था, और मैनेजर-कल्पित अद्भुत पुर्तगीज नाम भी मिथ्या है, मामला भी तुच्छ है; किन्तु इसका फल किसी तरह तुच्छ नहीं है। स्वर्गीय ग्रन्थकारकी, जान पड़ता है, यह इच्छा थी कि उस समय बंगालमें निलहे साहबोंके द्वारा जो सब अत्याचार और अन्याय होते थे, उनका कुछ आभास दे दिया जाय। इसके अभिनयसे क्लास-हेट्रेड जाग सकता है, राजशक्तिको यही आशंका हुई। आशंका अमूलक है या समूलक, इसकी आलोचना नहीं करनी है, अथवा अँगरेजी नामके बदले पुर्तगीज नाम रख देनेसे वर्ग-विद्वेष बचता है या नहीं—यह भी मैं नहीं जानता—अँगरेजोंके आईनसे बच भी सकता है—किन्तु जो आईन इसके भी ऊपर है, जिसमें क्लास या 'वर्ग' नामकी कोई चीज नहीं है, उसके निष्पक्ष विचारमें एकका अपराध दूसरेके सिर थोपनेसे जो चीज मरती है, उसका मूल्य क्लास हेट्रेडसे भी कहीं अधिक है।

उस दिन देखा, इस छोटी-सी छलनासे छोटे बच्चे भी छुटकारा नहीं पा सके। उनकी साधारण पाठ्य पुस्तकमें भी इस असत्यने स्थान पाया है। नवीन ग्रन्थकार मेरी राय जाननेके लिए आये थे। मैंने पूछा—यह अद्भुत नाम आपने प्राप्त किस तरह किया? ग्रन्थकारने लज्जित भावसे कहा—प्राण बचानेके लिए

करना पड़ता है महाशय। जानता सब हूँ, लेकिन गरीब आदमी हूँ; पैसा खर्च करके पुस्तक छपाई है, इससे यह चाल चलनी पड़ी। ऐसा किये बिना किसी भी स्कूलमें यह किताब न चलेगी।

उनसे और कुछ कहनेको जी नहीं चाहा; किन्तु मन-ही-मन कपालपर कराघात करके कहा—जिस राज्यके शासन-तन्त्रमे सत्य निन्दित है, जिस देशके ग्रन्थकारको जान-बूझकर मिथ्या लिखना पड़ता है, लिखकर भी सदा भयसे कंटकित रहना पड़ता है, उस देशमें मनुष्य ग्रन्थकार बनना ही क्यों चाहता है? उस देशका असत्य-साहित्य रसातलमे न डूब जाय! सत्यहीन देशके साहित्यमे इसीसे आज शक्ति नहीं है, गति नहीं है, प्राण नहीं है। इसीसे आज साहित्यका नाम देकर देशमे ढेरके ढेर कूड़ा-कर्कटकी सृष्टि होती है। इसीसे आज देशका रंगमच भले आदमियों द्वारा परित्यक्त, पंगु और अकर्मण्य है। वह न आनन्द ही देता है, न शिक्षा। देशके रक्तके साथ उसका योग नहीं है, प्राणके साथ परिचय नहीं है, देशके आशा-भरोसेका वह कोई नहीं है। वह जैसे किसी अतीत युगकी लाश है। इसीसे पॉच सौ वर्ष पहले कब किसने किस मुगल पठानको नीचा दिखाया था और कब किस सुयोगमें किस मराठेने किस राजपूतको खोचा मारा था, केवल इसीका वह साक्षी है। इसके सिवा और कुछ भी उसे देशके आगे नहीं कहना है। देशके नाट्यकारोके हृदय के भीतरसे अगर कभी सत्य ध्वनित हो उठा है तो वह फौरन् ही आईनके नामसे, शान्तिरक्षाके नामपर राजसरकार द्वारा जब्त हो गया है। इसी कारण सत्यसे वंचित हमारी नाट्यशाला आज देशके सामने ऐसी लज्जित, व्यर्थ और अर्थहीन है। 'रूल ब्रिटानिया' गानेसे अँगरेजकी छाती फूल उठती है, किन्तु 'आमार देश' गाना हमारे देशमे निषिद्ध है। यह जो आज महासागरसे हिमालयतक फैली हुई भावकी बहिया, कर्म और उद्यमका प्रवाह बढ़ रहा है, इसका तनिक भी स्पंदन या जरा-सी भी आहट नाट्यशालामें नहीं पाई जाती। देशके बीचमे बैठकर भी उसके सब दरवाजे और खिड़कियॉ भय और मिथ्याकी अर्गलासे ऐसी बन्द हैं कि देशभरमे फैली हुई इतनी बड़ी दीप्तिकी एक छोटी-सी किरण भी उसके भीतर जानेको राह नहीं पाती। और किस देशमें ऐसा हो सकता था! आज मातृभूमिके महायज्ञमें जो लोग अपने हृदयका रक्त इस तरह ढाल दे रहे हैं, उनका नामतक लेना और किस

देशकी नाट्यशालामें निषिद्ध हो सकता था ! फिर भी यह सब-कुछ देशके ही कल्याणके लिए है ! देशके कल्याणके लिए ही आज देशके नाट्यकारोंकी कलमका पोर-पोर आईनके नागपाशसे बँधा हुआ है और ऐसी बात भी आज सत्य माननी पड़ती है कि देशके कवियों, देशके नाट्यकारोंके हृदयको भेदकर जो वाक्य, जो संगीत निकलता है, देशका उससे कल्याण नहीं है, शान्ति नहीं है। विदेशी राजपुरुषोंके मुखसे यह बात भी आज हमको मानकर चलना पड़ रहा है। किन्तु अब इस, बिना विचारे मानकर चलनेके, नफे-नुकसानका हिसाब लगानेका समय आ गया है। और इसने क्या अकेले हम लोगोंको ही क्षुद्र कर रक्खा है ? जो इसे चलाते है, वे क्या छोटे नहीं हुए ? हम दुःख पाते हैं; किन्तु मिथ्याको सत्य करके दिखानेका जो दुःख-भोग है, वह क्या सदा टाला जा सकेगा ? ऋण चुकानेका दुःख है,—आज हमारी पुकार हुई है, किन्तु देना चुकानेका बुलावा जिस दिन उनके भाग्यमें आएगा उस दिन भी क्या उनको हँसी आएगी ?

मामला कागज-कलमसे लोगोंकी नजरमें कैसा लगता है, मैं ठीक नहीं जानता ! शायद इस बंगदेशमें ही ऐसे आदमी हैं, जिनके निकट आदिसे अन्त-तक तुच्छ मालूम पड़ना भी विचित्र नहीं है; और यदि वही हो, तो भी—और भी ऐसी ही एक तुच्छ घटनाका उल्लेख करके इस प्रसंगको बन्द कर दूँगा। उस दिन यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूटमें लड़कोंके कविता-पाठकी एक प्रतियोगिता-परीक्षा थी। सर्वदेशपूजित कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी 'ए बार फिराओ मोरे' शीर्षक कविता पढ़नेके लिए चुनी गई थी। परीक्षा देनेवाले लड़कोंमेंसे ही एक मेरे पास दो-एक बातें जान लेनेके लिए आया। उसके पास यह देखकर मैं दंग रह गया कि इस लम्बी कविताकी जो सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति थी—जिसमें इस दुर्भाग्य देशकी दुर्दशाका वर्णन था—उसी अंशको छाँटकर निकाल दिया गया है ! मैंने पूछा—यह कुकर्म किसने किया ?

लड़केने कहा—जी, निर्वाचनका भार जिनके ऊपर था, उन्होंने।

मैंने सोचा, ये लोग रत्नको नहीं पहचानते, इसीसे शायद यह छिलका बटोरना हुआ है। किन्तु मैंने देखा, वह लड़का सब जानता है। उसने मेरे

भ्रमको दूर कर दिया। विनयके साथ बोला—जी, वे सब-कुछ जानते हैं। पर उसमें देशके दुःख-दैन्यकी चर्चा है, इसीसे वह नहीं पढ़ी जा सकती—वह सिडीशन है!

मैंने कहा—किसने कहा?

लड़केने जवाब दिया—हमारे कर्ता-धर्ता लोगोंने।

जाने दो—जान बची। तो कर्ता-धर्ता लोग इसमें भी हैं! अर्वाचीन-शिशुओंके मंगलकी चिन्ता करनेके लिए यहाँ भी पक्के दिमागोंका अभाव नहीं हुआ। पूछा—अच्छा, तुम लोग कविताके इस अंशको सभामें पढ़ नहीं सकते?

उसने कहा—पढ़ सकते हैं; लेकिन वे कहते हैं कि पढ़ सकना उचित नहीं है; फसाद खड़ा हो सकता है।

और प्रश्न करनेको जी नहीं चाहा। जो देशके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, जो निष्पाप और निर्मल हैं, उनके हृदयके भीतरसे स्वदेशकी भलाईके लिए जो कविता निकली है, प्रकाश्य सभामें उसका पढ़ना सिडीशन (राजद्रोह) है—वह अपराध है! इस सभ्य देशके लड़के आज कर्तृपक्षके निकट यही सीखनेके लिए वाध्य होते हैं, और कर्तृपक्षकी न काटी जा सकनेवाली युक्ति यह है कि इससे फसाद खड़ा हो सकता है!

स मा प्त